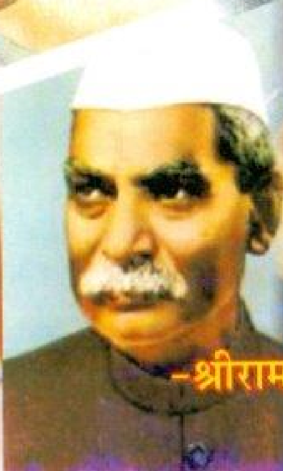
भारतीय इतिहास के कीर्ति स्तम्भ

भाग-२






-श्रीराम शर्मा आचार्य



भारतीय इतिहास के कीर्ति स्तम्भ

(द्वितीय भाग)

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१२ मूल्य : १३) रुपया

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

लेखक
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

यह संकलन

हममें से अधिकांश इतिहास पढ़ते हैं परंतु कुछ लोग होते हैं जो इतिहास गढ़ते हैं । ऐसा भी नहीं नहीं है कि इतिहास गढ़ने वाले ये सभी महावीर साधन सम्पन्न होते हों । इनमें से कितने ही असुविधाओं में ही पलते हैं और आगे बढ़ते हैं । संकल्प के धनी इन इतिहास पुरुषों के समक्ष सुविधाहीनता अपने घुटने टेक देती है और ये अपने लक्ष्य तक पहुँचकर ही दम लेते हैं । महर्षि अगस्त्य ने देखा कि भारत के उत्तर और दक्षिण को जोड़ने में विंध्याचल सबसे बड़ी बाधा है । उन्होंने संकल्प किया कि विंध्याचल को झुकना ही पड़ेगा और संसार ने देखा कि आकाश को छूने की आकांक्षा रखने वाला वह अहंकारी विंध्य पर्वत उनके सामने जो नत मस्तक हुआ तो आज तक वैसा ही पड़ा हुआ है । भारत के ऋषियों-मनीषियों ने मानस मंथन कर ज्ञान का जो अमृत कुंभ प्राप्त किया है उसकी बूँदें विश्व के हर मानव को मिलना चाहिए-ऐसा एक विचार उन उदारमना के अंतःकरण में प्रस्फुटित हुआ । परंतु उद्दंड समुद्र बाधा बनकर खड़ा हो गया । महर्षि ने कहा कि मैं समुद्र को ही सुखा डालूँगा और सचमुच उनके ज्ञान प्रचारकों के लिए समुद्र सूख ही सा गया । ज्ञान के अमृत कण सुदूर विश्व तक पहुँच गए ।

इतिहास का एक बड़ा सत्य यह भी है कि साधनों की विपुलता या तो मनुष्य को दुराभिमानी बना देती है या आलसी और निकम्मा । जीने का मजा तो तभी है जब अपनी राह स्वयं बनाई जाय और मंजिल तक पहुँचकर ही दम लिया जाय । ऐसे ही लोग इतिहास गढ़ते हैं और इतिहास पुरुष कहलाते हैं ।

हम भी इतिहास पुरुष न सही पर इतिहास तो गढ़ ही सकते हैं । यह संभव है कि हमारे द्वारा गढ़े गए इतिहास का प्रकाश हमारे घर-परिवार, सुहृद-संबंध, इष्ट-मित्र, मोहल्ला-नगर, जनपद-अंचल तक ही सीमित रह जाय । परंतु कर्मवीरों के लिए इससे क्या फर्क पड़ता है और फिर कुछ न करने से कुछ करना तो अच्छा ही होगा । अतः आइए ! इस लघु-पुस्तिका में संकलित कुछ इतिहास पुरुषों के चरित्रों को पढ़कर उस पर मनन-चिंतन कर कुछ करने की प्रेरणा ग्रहण करते हुए संकल्प शक्ति अर्जित की जाय ।

-प्रकाशक

विषयानुक्रम



जातीय गौरव के रक्षक राणा राज सिंह

उदयपुर नगर निवासी सुयोग्य अधिपति राणा राजसिंह की छत्रछाया में सुख की नींद सो रहे थे किन्तु महाराणा की आँखों से आज निद्रा रूठी हुई थी । वे बेचैनी से अपने कक्ष के प्रकोष्ठ में टहल रहे थे । उनके मुख मंडल पर छाये गांभीर्य से मन में चल रहे विचार मंथन का सहज परिचय मिल रहा था ।

उनकी चिंता का कारण वह पत्र था जिसे मेवाड़ और मारवाड़ के मध्य स्थित छोटी सी रियासत रूपनगर का राज-पुरोहित लाया था । पत्र वहाँ की राजकुमारी चारुमती का था । उसमें चारुमती ने लिखा था-"दिल्लीपति औरंगजेब अपनी सत्ता व सैन्य के मद से उन्मत्त हो एक राजपूत हिन्दू बालिका को अपनी पाशविक वृत्ति का शिकार बनाना चाहता है । वह अभागिन मैं ही हूँ । मेरा रूप ही उसकी इस घृणित कामना का कारण है । मैं मर जाना श्रेयस्कर समझती हूँ किन्तु उस म्लेच्छ की महारानी बनना नहीं चाहती ।

मैंने आपको पति रूप में वरण कर लिया है । पिताजी ने अन्य हिन्दू राजाओं से मुझे अपना लेने का अनुरोध किया पर दुष्ट औरंगजेब के भय से कोई ऐसा साहस नहीं कर सका । इस अबला की रक्षा हिन्दू सूर्य मेवाड़ महाराणा भी नहीं करेंगे तो और कौन करेगा । आपकी सेविका-चारुमती ।"

"इस अबला की रक्षा हिन्दू सूर्य-मेवाड़ के महाराणा भी नहीं करेंगे तो और कौन करेगा ?"-ये शब्द प्रश्न चिह्न बनकर उनके मन-मस्तिष्क को झकझोर रहे थे । सच ही तो लिखा है रूप नगर की राजकुमारी ने । किन्तु वहाँ वह षोड़सी बाला और कहाँ में पैंतालीस के पास पहुँचा हुआ अधेड़ । यह जोड़ी कैसे जमेगी । किन्तु नहीं भारतीय नारी पति की वय को नहीं उसकी दर्प-दीप्त, पौरुष और प्रतिभा की पूजा करती है । वे अवश्य मेवाड़ की भावी महारानी की रक्षा करेंगे ।

उन्हें ज्ञात था कि औरंगजेब से टकराना हँसी खेल नहीं है । कहाँ मेवाड़ का छोटा सा राज्य और कहाँ भारत सम्राट । किन्तु जातीय स्वाभिमान की रक्षा तो करनी ही है । मेवाड़ की परम्परा ही यही रही है । उनके पूर्वजों ने सदा मुगलों को नाको चने चबवाये हैं । महाराणा सांगा, राणा प्रताप आदि पूर्वजों का स्मरण होते

ही उनकी काया में हाथियों जैसा बल संचार हो आया ।

दूसरे ही दिन उन्होंने अपने सरदारों को बुलाकर इस विषय पर मंत्रणा की । इन वीरों ने मरना सीखा था । सभी ने एक स्वर में राजकुमारी की रक्षा करने के लिए प्राण न्यौछावर कर देने की सहमति दी । उसी मंत्रणा के समय पूरी योजना बना ली गयी । सलूम्बर के युवराज वीरसिंह की कमान में एक हजार राजपूत सैनिकों को औरंगजेब की राह रोकने के लिए भेज दिया और वे गुप्त वेश में अपने पचास जाँवाज साथियों को साथ लेकर रूप नगर की ओर चल पड़े ।

रूप नगर पहुँचकर उन्होंने राजकुमारी का हरण कर लिया । उनकी योजना की सूचना राज पुरोहित द्वारा राजकुमारी को पहले ही मिल चुकी थी । अत: उसने महाराणा तथा उनके अनुचरों ने कोई प्रतिरोध नहीं किया ।

महाराणा राजकुमारी को लेकर सकुशल उदयपुर लौट आए तब तक चुंडावत राजकुमार वीरसिंह ने औरंगजेब की विशाल वाहिनी को अपने बुद्धि कौशल तथा वीरता से रोके रखा तथा इस प्रयोजन में उन्होंने प्राण विसर्जित किए । बचे हुए राजपूत योद्धा उदयपुर लौट आए ।

औरंगजेब जब रूप नगर पहुँचा तो वहाँ राजकुमारी को न पाकर क्रोध से जल उठा । उसने मेवाड़ की ईंट से ईंट बजा देने का निश्चय कर लिया । किन्तु उसकी यह कामना कभी पूर्ण नहीं हो सकी वरन् तीनों बार उसे हारना पड़ा तथा एक बार तो अपमान जनक संधि भी करनी पड़ी ।

औरंगजेब की जड़ों में तेल डालने में महाराष्ट्र में शिवाजी ने जो उद्योग किया था वैसा ही प्रयास मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने भी किया था । यहीं से मुगल साम्राज्य के पराभव का सूत्रपात हो चला था ।

रूप नगर से खाली हाथ दिल्ली लौटने पर उसने अपने विश्वासपात्र सेनापित शाइस्ता खां को बहुत बड़ी सेना के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा ।

महाराणा राजसिंह वीर ही नहीं नीति कुशल भी थे । उनके गुप्तचरों का जाल मुगल राज्य में भी फैला हुआ था । शाइस्ता खां के दिल्ली से रवाना होकर मेवाड़ की सीमा तक पहुँचने के पहले ही महाराणा सचेते हो चुके थे । सेना कम होने के कारण वे आमने सामने युद्ध करने में असमर्थ थे । अत: उदयपुर तथा निकटवर्ती गाँवों को खाली कर दिया गया तथा पहाड़ों में जा छिपे ।

मुगल सेना ने मेवाड़ की सीमा में प्रवेश किया तो उन्हें कोई मनुष्य नजर न आया । वहाँ न खाने को अन्न था, न पीने को पानी । वे बिना लड़े मिलने वाली विजय का आनंद भोगते हुए मेवाड़ की राजधानी उदयपुर पहुँच गए । उदयपुर भी सुनसान पड़ा था । वे आश्चर्यचकित थे कि सब लोग कहाँ चले गए हैं ।

अवसर देखकर महाराणा अपने सैनिकों के साथ मुगल सेना के खाद्य सामग्री तथा धन-सम्पदा वाले भाग पर टूट पड़े और उसे ले भागे । मुगल सैनिक भूखों मरने लगे । उन्हें मेवाड़ छोड़कर भागते ही बना । भागते-भागते कितने ही सैनिक तो मर गए । दिल्ली में जब औरंगजेब ने अपनी पराजय का समाचार सुना तो वह क्रोध से पागल हो गया ।

शाइस्ता खां के भागते ही महाराणा राजसिंह अपनी प्रजा के साथ पुन: पहाड़ों से लौट आए तथा मुगल सेना द्वारा ध्वस्त किए मकानों को पुन: बनाकर रहने लगे । जन जीवन पूर्ववत चलने लगा ।

दूसरी बार अपने पुत्र अकबर के नेतृत्व में उसने बड़ी सेना भेजी । महाराणा मुगल परिवार की परम्पराओं से परिचित थे । उन्होंने अबकी बार दूसरी ही नीति से काम किया । उन्होंने अपने एक दूत के साथ एक पत्र तथा बहुमूल्य उपहार भेजे जिसमें लिखा था कि हमें आपसे कोई शत्रुता नहीं है । हम तो आपको दिल्ली का शहंशाह मानते हैं । आप अपनी तथा मेवाड़ की सम्मिलित सेनाओं के साथ दिल्ली पर आक्रमण करके जीत लें और भारत के यशस्वी सम्राट बनें ।

अकबर के लिए यह प्रलोभन कम नहीं था । उसके पिता ने अपने पिता से विद्रोह किया था । भाइयों को मरवाया था । पिता को जेल में डाल दिया था । दादा ने अपने पिता और पर दादा ने अपने पिता से लड़कर राज्य पाया था तो उसे भी उसी प्रकार का उद्योग करना चाहिए । निदान उसने महाराणा से मित्रता कर ली । मेवाड़ की राजधानी में उसका भारत सम्राट की तरह स्वागत किया गया । महाराणा का वह अपने पिता की तरह आदर करने लगा ।

औरंगजेब के गुप्तचरों ने जब उसे अकबर के महाराणा से मिल जाने तथा स्वयं शहंशाह बनने के स्वप्न देखने की सूचना मिली तो उसने सिर पीट लिया । उसने अकबर को अपनी तरफ से प्रेम भरा पत्र लिखा तथा उसे अपनी बीमारी का बहाना बनाते हुए दिल्ली बुलाया । अकबर उसकी चाल नहीं समझ सका ।

उसके दिल्ली लौटते ही औरंगजेब ने उसे कैद कर लिया ।

तीसरी तथा अंतिम बार स्वयं औरंगजेब अपनी विशाल सेना लेकर महाराणा राजसिंह को अपनी गुस्ताखी का मजा चखाने के लिए दिल्ली से रवाना हुआ । महाराणा इसका अनुमान पहले से लगाए बैठे थे । उन्होंने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा ली थी तथा देबारी के नाके को पूरी तरह सुदृढ़ बना दिया था जो पूर्व की ओर से आने वालों के लिए मेवाड़ की राजधानी उदयपुर में प्रवेश करने का एकमात्र प्रवेश मार्ग था ।

औरंगजेब अजमेर से होता हुआ इसी द्वार से प्रवेश करने वाला था । उसके साथ खजाना व बेगमें भी थीं । देबारी की सँकरी घाटी में औरंगजेब को फँसाकर महाराणा ने उसके खजाने को लूट लिया तथा बेगमों को बंदी बना लिया । उन्हें सम्मान सहित उदयपुर के राज महल में रखा गया । इस प्रकार चूहेदानी में फँसा हुआ औरंगजेब उनसे अपमानित होकर संधि करने को विवश हुआ तथा फिर कभी उसने मेवाड़ की ओर आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं की ।

महाराणा जितने रणकुशल तथा वीर थे उतने ही प्रजा पालक सहृदय राजा भी थे । एक बार मेवाड़ में भारी अकाल पड़ा । लोगों के पास धन तथा अन्न दोनों का अभाव हो गया । इस जल कष्ट को सदा के लिए दूर करने तथा लोगों को रोजगार देने के लिए सहायता कार्य चलाकर 'राज समंद' नामक प्रसिद्ध तालाब का निर्माण किया जिससे काँकरोली नाथ द्वारा के आसपास के कितने ही गाँवों का जल कष्ट दूर हुआ ।

'राज समंद' झील इंजीनियरिंग का अनूठा नमूना है । वह इतने उपयुक्त स्थान पर बनाया गया था कि प्रतिवर्ष थोड़ी सी वर्षा होने पर भी भर जाया करता था । उसका जल संग्रहण क्षेत्र बहुत विस्तृत था । किन्तु अब वह प्राय: पूरा नहीं भर पाता क्योंकि आसपास कई छोटे-छोटे तालाब बना दिए जाने से उसे पानी नहीं मिल पाता ।

उन्होंने औरंगजेब को स्वयं ही नहीं झुकाया वरन् जोधपुर की महारानी तथा उसके सहयोगी दुर्गादास राठौर को भरपूर सहायता देकर जोधपुर राज्य को मुगल शासन से मुक्त करवा लिया था । इस प्रकार राजस्थान में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ था । राठौरों से चले आ रहे परम्परागत बैर भाव को समाप्त कर ऐक्य स्थापित करने की पहल इसी बात की सूचक थी ।

उन्होंने अपने उस परम्परागत उद्देश्य का पूरी तरह पालन किया जो महाराणा प्रताप निर्धारित कर गए थे । 'जो दृढ़ राखे धर्म को तोहि राखे करतार' का पालन करते हुए वे राज्य के संरक्षक बने रहे थे । मेवाड़ राज्य पर देवाधिदेव शंकर (एकलिंग) का स्वामित्व मानते हुए स्वयं उनके 'दीवाण' (प्रधानमंत्री) बनकर काम करते रहे थे । उनका यह उदात्त जीवन हमारे सुप्त स्वाभिमान को जगाने की प्रबल प्रेरणाएं देता रहेगा ।

महात्वाकांक्षी वीर
महादाजी सिंधिया

मराठों और अहमद शाह अब्दाली के बीच हुई भयंकर लड़ाई में मराठों को पराजय का मुख देखना पड़ा था । इससे उनकी बढ़ी-चढ़ी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचा । इस पराजय का समाचार जब पेशवा नाना साहब को मिला तो वे इतने दु:खी हुए कि इसी शोक और निराशा में घुलते हुए थोड़े ही दिनों में उनका प्राणांत हो गया ।

पानीपत की इस पराजय के कारण महाराष्ट्र मंडल में व्यापी निराशा को मिटाने और खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुन: प्राप्त करने का श्रेय जिन थोड़े से पुरुषार्थियों को दिया जा सकता है उनमें शीर्षस्थ व्यक्ति दो हैं-निष्काम भाव से हिन्दू महाराष्ट्र को पुर्नप्रतिष्ठापित करने वाले कुशल राजनीतिज्ञ नाना पडनवीस और वीरवर महादाजी सिंधिया । महादाजी सिंधिया महाराष्ट्र मंडल की सुदृढ़, बलिष्ठ भुजदंडों सदृश्य थे तो नाना फड़नवीस उसके तेज तर्रार मस्तिष्क बल ।

महादाजी सिंधिया मालवा के एक छोटे से क्षेत्र के अधिपति राणोजी सिंधिया के पुत्र थे । राणो जी सिंधिया के पुरखे मुगल सम्राट के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे । किन्तु परिस्थितिवश उन्हें पेशवा के सामान्य भृत्य का कार्य करना पड़ा । इस तुच्छ से कार्य को भी राणोजी ने इस निष्ठा व दायित्व के साथ निभाया कि पेशवा ने प्रसन्न होककर उन्हें मालवा के उत्तरार्द्ध का प्रशासक नियुक्त कर दिया ।

महादाजी सिंधिया राणो जी की एक ऐसी उपपत्नी के पुत्र थे जिसका पूर्व

चरित्र सम्मानास्पद नहीं रह सका था । इस कारण कुलीन मराठा वंशों के अधिकांश सामंत अपने संकीर्ण दुराग्रहों के कारण उनका सम्मान नहीं करते थे । राणो जी के कोई पुत्र नहीं होने के कारण महादाजी को उनका उत्तराधिकार मिला था ।

महादाज़ी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे । वह स्वयं पानीपत के युद्ध में सेनापति सदाशिव राव भाऊ का सहायक बनकर गए थे । पानीपत में हुई पराजय के अनंतर वह भी वहाँ से भाग आए थे । इस युद्ध में उन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया था ।

महादाजी सिंधिया और नाना फड़नवीस ने मिलकर महाराष्ट्र के गौरव को पुन: प्रतिष्ठापित करने का प्रबल प्रयास किया । महादाजी सिंधिया जैसा पराक्रमी शूरवीर उस समय महाराष्ट्र मंडल में दूसरा कोई नहीं था । अत: नाना फड़नवीस ने उन्हें अपना अनन्य सहयोगी बना लिया ।

पिछले वर्षों में पूना और बड़ौदा के अतिरिक्त मध्य भारत में ग्वालियर और इन्दौर नामक दो मराठा राज्य उदित हुए थे । महादाजी सिंधिया को उन्हीं में से एक ग्वालियर का आधिपत्य उत्तराधिकार में मिला था । महादाजी के नेतृत्व में मराठा सेना ने कई बार अंग्रेजों को करारी हार ही नहीं दी वरन् मुगल सम्राट के संरक्षक भी महादाजी सिंधिया बने । महाराष्ट्र मंडल एक बार पुन: भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन सका इसमें महादाजी के इस पराक्रम का बहुत बड़ा हाथ था ।

सन् १७७९ में मराठों और अंग्रेजों के बीच जो युद्ध हुआ उसके सेनापति महादाजी ही थे । महादाजी सिंधिया और होल्कर को नाना फड़नवीस ने पूना दरबार की सेनाओं की कमान थमाकर लड़ने के लिए भेजा । अंग्रेजों को देशद्रोही राघोबा अपने साथ लेकर आ रहा था । वह पेशवा बनने के सपने देखता हुआ अंग्रेजों की कठपुतली बना उन्हें अपने ही घर पर चढ़ाकर ला रहा था ।

मराठे सरदारों ने खांडेल तक उनकी सेना को नहीं रोका । बंबई से १८ मील दूर नली गाँव में वे उनका वीरोचित स्वागत करने को तैयार खड़े थे । इस सजी सजाई सेना को देखकर अंग्रेज काँप उठे । लड़कर पराजित होने की अपेक्षा उन्होंने लौट पड़ना ही ठीक समझा । अत: वे लौट पड़े । लौटती हुई अंग्रेजी सेना पर मराठे वीर भूखे सिंह की भांति टूट पड़े । उनकी रसद और गोला बारूद पर अधिकार कर लिया । चारों ओर से अंग्रेजी सेना को घेर लिया गया और उन्हें आत्म समर्पण के लिए विवश कर दिया । मजबूर होकर उन्हें अपमानजनक संधि करनी पड़ी ।

महादाजी वीर थे पर वह नाना फड़नवीस की तरह दूरदर्शी नहीं थे । न वे निष्काम भाव से राष्ट्र सेवा करने के व्रती थे वरन् उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं भी कम बढ़ी-चढ़ी नहीं थीं । यही कारण था कि वे वीर होते हुए भी अपनी इस वीरता से राष्ट्र का कोई विशेष हित अपनी स्वेच्छापूर्वक नहीं कर पाये । नाना फड़नवीस उसकी वीरता और युद्ध कौशल का सदुपयोग समय-समय पर राष्ट्र हित में करते रहे थे पर महादाजी के हृदय में उन उच्च भावों की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का अधिक स्थान था । फिर भी साधन रूप में और अपने पराक्रम से मुगल साम्राज्य को हिला देने व उसका संरक्षक बनने के रूप में उसकी वीरता का महत्व असंदिग्ध ही है ।

महादाजी की इस व्यक्तिगत महात्वाकांक्षा के मूल में एक कारण यह भी था कि उसे अन्य मराठे सरदार राणो जी की उपपत्नी के पुत्र होने के कारण असम्मानित दृष्टि से देखते थे और वह महाराष्ट्र मंडल के हित से अपने व्यक्तिगत हित को ऊपर स्थान दिया करते थे । महादाजी की इस महत्वाकांक्षा को समाप्त किया जा सकता था यदि उनकी वीरता और पराक्रम के अनुरूप उन्हें मान दिया जाता । महाराष्ट्र मंडल के सूत्र संचालक नाना फड़नवीस अवश्य उन्हें वह मान देते थे जिसके वे अधिकारी थे । नाना फड़नवीस ने उसकी भूलों को समय-समय पर सुधारा भी ।

बंबई के युद्ध में हुई विजय के पश्चात संधि की शर्तों के अनुसार दो अंग्रेजों को महाराष्ट्र मंडल में बंधक रखा गया था । नाना फड़नवीस ने यह गौरव महादाजी को ही दिया कि वह उन दोनों का निरीक्षण करें तथा उन्हें अपने अधिकार में रखें । राघोबा को अंग्रेजों ने संधि की शर्तों के अनुसार महाराष्ट्र मंडल को सौंप दिया था । उसके नियंत्रण का दायित्व भी महादाजी को ही सौंपा गया ।

कर्नल गाईड ने महादाजी पर अपना जाल फैलाया । उन्हें प्रलोभन दिया कि वह उसे महाराष्ट्र मंडल में सबसे प्रमुख बना देगा । महादाजी वीर थे पर कूटनीतिक नहीं थे साथ ही महत्वाकांक्षी भी थे सो उसके झांसे में आ गए । उन्होंने दोनों अंग्रेज प्रतिनिधियों व राघोबा को उनके हाथों में सौंप दिया । महादाजी सोचते थे कि ऐसा करने के कारण अंग्रेज़ उनसे अलग संधि करेंगे पर कर्नल गाईड ने ऐसा कुछ नहीं किया वरन् उसने सिंधिया के सैनिकों पर छापा भी मारा ।

इस चूक से भी वे सबक नहीं ले सके । नाना फड़नवीस ने जब मुगल साम्राज्य, अर्काट के नबाव, हैदर अली, निजाम तथा अन्य छोटे-छोटे राज्यों को संगठित कर अंग्रेजों को समूल नष्ट करने की तैयारियाँ आरंभ की तो कर्नल गाईड ने पुनः सिंधिया को मध्यस्थ बनाया । सालबाई की संधि इसी मध्यस्थता का परिणाम थी । महादाजी यदि बीच में नहीं पड़ता तो बहुत संभव था उस समय साम्प्रदायिक मतभेद भुलाकर एक हुए भारतीय राजागण अंग्रेजों को सदा के लिए बाहर निकाल देते । हैदरअली तो पहले ही इसके लिए तैयार बैठा था । पर सालबाई की संधि ने उस संभावना पर पानी फेर दिया । यहाँ नाना फड़नवीस भी चूक गए थे । वे महाराष्ट्र मंडल की ही बात न सोचकर सारे भारत की सोचते तो ऐसा न होता ।

इन भूलों के करते हुए भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वह वीर और पराक्रमी थे उसने हिन्दुओं का डंका ठेठ दिल्ली के मुगल तख्त तक बजाया था । उसकी समझ में उस समय यह बात नहीं आयी थी कि उनका वास्तविक शत्रु कौन है ? वह अब भी मुगलों और अन्य मुस्लिम शासकों को ही भारतीयों का शत्रु समझता था । जबकि स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी । अब अंग्रेज समस्त भारतवासियों को लील जाने के लिए आ पहुँचे थे पर वह उन्हें समझ नहीं पाया था । यही कारण था कि वह उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा अपना मित्र मानता था ।

दिल्ली के बादशाह शाह आलम को इलाहाबाद से दिल्ली पहुँचाकर तख्त नशीन करवाने के लिए महादाजी ने उससे दस लाख रुपये लिए । महादाजी ने उसे तख्त पर बिठाया । वह उस कठपुतली बादशाह के संरक्षक भी बने । इस प्रकार दिल्ली पर हिन्दू राजा का वर्चस्व स्थापित हुआ । अपनी दृष्टि से महादाजी ने यह गौरवपूर्ण कार्य किया था । उनके इस कार्य का महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा । यही बात अखरती है कि वे दूरदर्शी नहीं थे । किन्तु उन्हें तो नाना फड़नवीस निभा ले गए ।

सालवाई की संधि से अंग्रेज मराठों की शक्ति का लोहा मान चुके थे । उन्हें अपनी भूमि और प्रतिष्ठा खोना पड़ी थी । पर वस्तुतः यह उनकी चाल थी । वे नाना फड़नवीस और महादाजी के रहते हुए महाराष्ट्र मंडल पर हाथ नहीं डाल सकते थे अतः इस संधि के माध्यम से उन्होंने अपना बचाव किया था । उस समय तो

महादाजी को यह गौरवपूर्ण लगा था और इस संधि से प्रत्यक्षत: मराठों का प्रभुत्व बढ़ा ही था ।

इस संधि के उपरांत १७८२ में वे दिल्ली पहुँचे । दिल्ली पर महादाजी का बड़ा प्रभाव था । सब पर उसकी धाक बैठी हुई थी । उसने आगरा में रहकर मुगल सम्राट के शासन का प्रबंध किया । राज्य में कई हेर-फेर किए । अयोग्य व्यक्तियों को कार्य मुक्त करके उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया । वस्तुत: दिल्ली दरबार की सारी शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी । वह जब तक आगरा रहा उसकी स्थिति सम्राट की ही थी । शाह आलम तो नाम का सम्राट था ।

अपने समय में महादाजी ने सारे भारत में एक बार पुन: महाराष्ट्र मंडल का भगवा ध्वज, जिसे धर्म राज्य के प्रतीक रूप में समर्थ रामदास ने शिवाजी को सौंपा था, फहराया । अंग्रेज लोग उसके पराक्रम के आगे पानी भरते थे । पूना के पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने यह दिखा दिया था कि दिल्ली के साम्राज्य का संरक्षण करने की और परोक्ष रूप में उस पर आरूढ़ रहने की सामर्थ्य किसी में है तो वह मराठों में ही है ।

हिन्दू जनता का स्वाभिमान महादाजी के समय में एक बार पुन: हिलोरें लेने लगा था कि सारे देश में पुन: भारतीयों का शासन हो जाएगा । १७७२ में उन्होंने इस आशा को चरम शिखर पर पहुँचा दिया था । दुर्भाग्य से अगले ही वर्ष उनका देहावसान हो गया । समय के चाणक्य नाना फड़नवीस का चंद्रगुप्त महादाजी चल बसा । उनका हाथ टूट गया । इस वीर की मृत्यु से महाराष्ट्र मंडल की जो क्षति हुई उसे पूरा करने वाला फिर कोई मिला नहीं । अपनी वीरता और अदूरदर्शिता के कारण महादाजी का जीवन आज भी सीख बना हुआ है । वीरता ही पर्याप्त नहीं होती उसके साथ निष्काम राष्ट्र भावना व दूरदर्शिता भी आवश्यक है ।

महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक
पेशवा बाजीराव

वयस्क और योग्य पुत्रों के हाथ में शासन-सूत्र थमाकर बुंदेल केशरी वीर महाराज छत्रसाल ईश्वराधना और लोकसेवा में निरत रह वानप्रस्थ का सा जीवन यापन कर रहे थे । तभी ८६ वर्ष की आयु में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए महान उद्योग करने वाले बूढ़े शेर को पुनः राज्यरक्षा की ओर प्रवृत्त होना पड़ा ।

मुहम्मद शाह बंगस ने उनके कनिष्ठ पुत्र जगतराज पर तीसरी बार आक्रमण कर उसकी राजधानी जैतपुर पर अधिकार कर लिया । बंगस पहले दो बार जगतराज से हार चुका था पर तीसरी बार उसकी विजय हुई । वृद्ध छत्रसाल के शरीर में अब वह बल नहीं रहा था, न पर्याप्त सैन्य ही उनके पास थी अतः उन्हें पुनः एक बार उस ओर आशाभरी नजर से देखना पड़ा जिधर उन्होंने युवावस्था में देखा था । छत्रपति शिवाजी की सहायता और मार्गदर्शन से ही वे एक सामान्य जागीरदार से बुंदेलखंड के गौरव बन सके थे और मुसलमान शासकों से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करा सके थे ।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी के पौत्र शाहू उनके आसन पर आसीन थे । उनके सुयोग्य मंत्री पेशवा बाजीराव ने शिवाजी की मृत्यु के बाद विघटित हो गए हिन्दू महाराष्ट्र को पुनः संगठित कर एक महान शक्ति के रूप में विकसित किया था । महाराज छत्रसाल को बाजीराव ही वे व्यक्ति दिखे जो उनके जीवन भर की साधना को डूबने से बचा सकते थे । उन्होंने अपने एक विश्वस्त दूत के हाथ इस आशय का संदेश भेजा-

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आय ।
बाजी जात बुंदेल की राखो बाजी राय ॥

बाजीराव को संदेश मिला था कि वे एक विशाल सेना लेकर उनकी सहायता के लिए आ पहुँचें । भारत के इतिहास में यह अपने ढंग की महत्वपूर्ण घटना है । यदि इससे तत्कालीन हिन्दू राजा थोड़ी सीख लेते तो उनका पराभव संभव नहीं होता । महाराष्ट्र और बुंदेलखंड की सम्मिलित शक्ति के आगे बंगस को पराजित

होकर भागना ही नहीं पड़ा वरन् हर्जाना और भविष्य में आक्रमण नहीं करने के लिए वचनबद्ध भी होना पड़ा ।

महाराज छत्रसाल के आह्वान पर यों उनकी सहायता को प्रस्तुत हो जाने वाले पेशवा बाजीराव ने एक बार पुनः उस स्वप्न को साकार करने के लिए प्राणप्रण से चेष्टा की जिसे समर्थ रामदास और शिवाजी ने देखा था । उनका लक्ष्य पुनः भारतवर्ष को एक सूत्र में बाँधना था । उनका अपना सारा जीवन इसी प्रयास में पूरा हुआ इसमें वे अंततः सफल भी हुए ।

इतिहास पुरुष बाजीराव का जन्म सन् १६९९ में सावित्री नदी के तट पर बसे हुए महाराष्ट्र के ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट में हुआ था । व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान पर बसा होने के कारण मुसलमान शासकों की लोलुप दृष्टि के घेरे में रहा करता था । इनके पिता बाला जी विश्वनाथ यहीं रहकर व्यापार कार्य किया करते थे । बालाजी को जब बाजीराव छोटे ही थे तभी निकटवर्ती 'जंजीरा' क्षेत्र के मुस्लिम शासक कासिम के अत्याचारों के कारण ग्राम छोड़ना पड़ा । बालाजी व्यापार के सिलसिले में अपने पास कुछ सैनिक भी रखते थे, मालगुजारी वसूलने का काम भी उनके हाथ में था । कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने तट प्रदेश के अधिपति कान्होजी आँग्रे का साथ दिया था । इस कारण कासिम ने उन पर घोर अत्याचार करने आरंभ किये । बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन को हाथ, पाँव, बाँध, एक संदूक में बंद कर क्रूरमना कासिम ने सागर में जीवित समाधि दे दी ।

ऐसी विकट परिस्थितियों को किशोर बाजीराव ने अपनी आँखों से देखा था और देखा था विधर्मी शासकों के उस नृशंस अत्याचार को जिसे देखकर उनके किशोर मन में इस अत्याचार से अपने देशवासी भाईयों को मुक्त करने का संकल्प भरने लगा ।

बालाजी का श्री वर्द्धन पट्ट में रहना सुरक्षित नहीं था अतः वे सपरिवार वहाँ से चल दिए । कैसे वे छत्रपति शाहू के मंत्रिमंडल में पहुँचे कैसे उन्होंने छत्रपति वंश को पुनः शक्तिमान बनाया यह एक लंबी कहानी है । जातीय गौरव और राष्ट्रीय स्वाभिमान से भरे-पूरे पिता के दाहिने हाथ बन कर रहने वाले बाजीराव ने उनसे बहुत कुछ सीखा । बालाजी यदि कायर होते तो वे कासिम के विरुद्ध आँग्रे का समर्थन कभी न करते पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई । वे पहले से अधिक

यशस्वी बन सके और अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकें । बालाजी महाराष्ट्र मंडल के पेशवा बनाए गए ।

पिता के पेशवा बनने के समय वे उनके प्रमुख सहायकों में रहे । युद्धों में भी वे उनके साथ जाते और राज्य संचालन में भी वे उनका हाथ बँटाते । उन्हीं के साथ वे दिल्ली भी गए और तत्कालीन मुगल सम्राट फरूखशियर से संधि वार्ता करने में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा ।

बालाजी की कुशल राजनीति और वीरतापूर्ण देशभक्ति के प्रताप से मराठों का प्रताप सारे देश में फैल गया । वे भारत के सभी राजाओं से सरदेशमुखी कर चौथ वसूल किया करते थे । एक बार पुनः धर्म समन्वित इसलिए कहा जाना उचित है क्योंकि उनके राज्य में वैसे अन्याय नहीं होते थे जैसे मुगलों व अन्य मुस्लिम शासकों के काल में होते थे ।

बालाजी की मृत्यु के उपरांत उनके द्वारा निभाये जा रहे इस दुर्वह दायित्व का भार बाजीराव के कंधों पर आ गया । बाजीराव अपने पिता की तरह ही वीर और कुशल राजनीतिज्ञ थे । उनकी माता ने उन्हें बचपन में वीर शिवाजी, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि महापुरुषों की प्रेरक कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें देश, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और जीवन के प्रति स्वस्थ और परमार्थिक दृष्टिकोण उत्पन्न किया था इससे उनमें जो चारित्रिक और व्यक्तिगत विशेषताएँ उत्पन्न हुई थीं उनके सहारे वे इस दुर्बह दायित्व को पूरा करने में समर्थ थे ।

यों उस युग के किसी भी राज पुरुष के जीवन में घटनाएं तो वही युद्ध संधि, वीरता, न्याय और राज प्रबंध विषयक घटित होती थीं, वे उनके जीवन में भी घटित हुई । उनके महत्व को उनके उच्च दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में आँका जाय तो उनके महत्व को पूरी तरह आँकना संभव नहीं होता ।

छत्रपति शिवाजी के प्रबल उद्योगों द्वारा स्थापित हिन्दू महाराष्ट्र समय के साथ शक्तिशाली तो होता गया और उसका चरम विकास बाजीराव और उनके पुत्र नाना साहब बालाजी के समय में देखने को मिला पर बाद में इस महाराष्ट्र के जितने भी कर्णधार हुए उनमें जातीय और राष्ट्रीय निष्ठा का ह्रास और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का परिवर्द्धन होने लगा था । ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के सामंत गणों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्रीय हित से ऊपर उठकर उन्हें विशृंखलित होने से बचाने का

काम जिन व्यक्तियों ने किया उन्हीं में बाजीराव पेशवा का नाम मुख्य माना जाता है ।

पूना नगर के पुनर्निर्माण का श्रेय श्री बाजीराव पेशवा को ही है । पूना नगर की रमणीकता, समृद्धि और बसावट के विषय में अंग्रेज प्रेक्षक मि० गोर्डन का वर्णन मनोमुग्धकारी है । यह पेशवा बाजीराव की कला प्रियता और निर्माण कौशल का उदाहरण है ।

निजाम पर अनेकों बार विजय और उससे चौथ बसूलने का अधिकार पाना, मालवा जीत कर वहाँ सुशासन की स्थापना करना, छत्रसाल के गौरव और बुंदेलखंड के हिन्दू राज्य की रक्षा करना, पुर्तगालियों के राज्य के विस्तार को रोकना आदि ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं जो उनकी वीरता और नीति कौशल के कारण ही संभव हुए हैं ।

उनके जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आए जब मृत्यु उनके सामने विकराल रूप धारण करके खड़ी हुई, शत्रु पक्ष के विश्वासघात के कारण वे बंदी बना लिए गए । ऐसे विकट क्षणों में भी उन्होंने धैर्य और साहस को विसारा नहीं । फल यह हुआ कि बाजी उनके हाथ रही ।

महाराज साहू और राजाराम आदि तो नाममात्र के छत्रपति रहे थे । राज्य का मेरुदंड तो पेशवा ही थे । पेशवा बाजीराव के पराक्रमी व्यक्तित्व ने सिंधिया और होल्कर को अपनी व्यक्तिगत महात्वाकांक्षाओं का दास नहीं होने दिया । उनके जीवन के घटनाक्रम इस बात की पुष्टि करते हैं कि उन्हें विधर्मी शासकों से जितना संघर्ष नहीं करना पड़ा उतना अपने ही स्वजातीय बंधुओं से महाराष्ट्र के एकत्व के लिए करना पड़ा ।

पेशवा बाजीराव के जीवन के साथ ऐसे ही कुछ प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनसे उनका उदात्त दृष्टिकोण स्पष्ट होता है । महाराज छत्रसाल की सहायता करने के कारण उन्होंने पेशवा बाजीराव को महाराष्ट्र मंडल के लिए न केवल अपने राज्य का तीसरा भाग, जिनमें झाँसी, बाँदा व जालौन सम्मिलित थे, मिले वरन् साथ ही काफी धन भी मिला, यही नहीं उन्होंने अपनी यवनी पत्नी की कोख से उत्पन्न एक पुत्री का विवाह भी बाजीराव के साथ किया । यद्यपि बाजीराव नहीं चाहते थे फिर भी महाराज छत्रसाल की बात रखने के लिए उन्हें यह विवाह संबंध स्वीकारना ही पड़ा ।

उनकी इस यवनी पुत्री-पत्नी को लेकर अपने कुटुंबीजनों का बड़ा विरोध

सहना पड़ा पर उन्होंने उसे अधिकार से वंचित नहीं होने दिया । उसे वही सम्मान और स्नेह वे देते रहे जिसकी वह अधिकारिणी थी ।

वे उसकी कोख से उत्पन्न पुत्र शमशेर बहादुर के उसी प्रकार उपनयन व मुंडनादि संस्कार करवाना चाहते थे ताकि वह सांस्कृतिक मर्यादाओं में बँधकर उच्च उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा ले पर तत्कालीन रूढ़िवादी समाज का एक भी ब्राह्मण इसके लिए तैयार नहीं हुआ । हिन्दू समाज की यह संकीर्णता ही उसके संकोचन का कारण बनी हुई है, आज भी ।

उनका सारा जीवन युद्ध, संधिकरण और राजनीति में ही व्यतीत हुई । पर उनकी राजनीति धर्म नीति के पीछे चलने वाली थी । अपने गुरु ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो तपस्वी संन्यासी थे, से प्राय: वे राज्य विषयक परामर्श लिया करते थे । कभी कोई विशेष उलझन होती तब भी वे उन्हीं से मार्गदर्शन पाया करते थे ।

२२ अप्रैल सन् १७४० में पेशवा बाजीराव का देहावसान हुआ । उनकी मृत्यु पर महाराष्ट्र पति को वैसा ही शोक हुआ जैसा महामात्य चाणक्य की मृत्यु पर सम्राट बिंदुसार को हुआ था । इतिहास पुरुष बाजीराव का जीवन भर का उद्योग काल की परिधि में बाँधा नहीं जा सका वे आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं ।

महाराष्ट्र मंडल के चाणक्य
नाना फड़नवीस

महाराष्ट्र-मंडल के राजन्य वर्ग का सोलह वर्षीय कुमार जनार्दन भानु मराठी सेनाओं के प्रधान सेनापति सदाशिव राव भाऊ का मंत्री बनकर अहमद शाह अब्दाली के साथ होने वाले पानीपत के युद्ध में पहुँचा । इस यात्रा के पीछे उसका उद्देश्य मात्र युद्ध कला का अनुभव प्राप्त करना ही नहीं था वरन् उत्तरी भारत के तीर्थ स्थलों का दर्शन करना भी था । इसीलिए उसके साथ उसकी माता और पत्नी भी थी ।

पानीपत का युद्ध तो विजेता अहमद शाह के लिए भी लाभकारी नहीं रहा था । पराजित पक्ष मराठों के लिए तो लाभकर होने का प्रश्न ही नहीं उठता । दोनों ओर से अपार जन, धन की हानि हुई मराठी सेना के प्रधान सेनापति सदाशिव राव भाऊ खेत

रहे । बालाजी जनार्दन भानु को भागना पड़ा । पानीपत से मराठी सेना के पाँव उखड़े तो दिल्ली और मथुरा में डेरा डाले पड़ी मराठी सेनाएँ भाग खड़ी हुईं । कुमार बालाजी जनार्दन भानु की माता व पत्नी इसी भाग-दौड़ में खो गयीं ।

पानीपत के युद्ध का अनुभव इस कुमार के लिए बड़ा भयंकर रहा । माता व पत्नी को खोकर वह एक साथ ही अनाथ और विधुर हो गया था । युद्ध ने मन में वैराग्य उपजा दिया था । मन में यही विचार उठता था कि वह घरबार त्याग कर संन्यासी हो जाय । कई दिनों तक उसके चित्त में यही विचार उमड़ता रहा । एक दिन चित्त कुछ अधिक उद्विग्न हुआ तो वह समर्थ 'रामदास' का दासबोध लेकर बैठ गया । इसके पठन, मनन-चिंतन से उसे बोध हो गया कि संसार से भागना संभव नहीं है । मैं यदि निष्काम भाव से करणीय कर्म करता रहूँ तो मुझे संसार त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । यह बोध होते ही अपने लिए विशाल कर्म क्षेत्र दिखाई दिया-विघटित होते हिन्दू महाराष्ट्र को बचाने और पुनर्गठित करने का । यही किशोर आगे चलकर नाना फड़नवीस नामक इतिहास पुरुष के नाम से विख्यात हुआ । इस एक अकेले व्यक्तियों ने अपने जीते जी महाराष्ट्र की कीर्ति को धूमिल नहीं होने दिया जिसे समर्थ और शिवाजी आदि महापुरुषों ने अपने महान कर्तव्य के बल पर संगठित किया था ।

नाना फड़नवीस का जन्म सन् १७४४ में पूना के फड़नवीस परिवार में हुआ था । मराठा मंडल के फड़नवीस कार्यालय के मुख्याधिकारी के पद पर कार्य करने के कारण इनके पूर्वजों के साथ फड़नवीस की उपाधि लगने लगी थी । पानीपत के युद्धोपरांत नाना फड़नवीस समर्थ गुरु रामदास तथा वीरवर शिवाजी की तरह निष्काम भाव से महाराष्ट्र मंडल के पुनर्गठन के कार्य में लग गये । इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक अकेले निष्काम कर्मयोगी नाना फड़नवीस के पुण्य प्रताप से महाराष्ट्र मंडल की नौका जिसमें अनेकानेक महत्वाकांक्षी पेंदे में छेद करने वाले सामंत बैठे थे फिर भी वह तब तक नहीं डूब सकी जब तक वे जीवित रहे ।

पानीपत की हार का धक्का पेशवा नाना साहेब (बालाजी) सहन न कर सके । शोक और निराशा ने उनके प्राण हर लिए । उनके पश्चात उनका सोलह वर्षीय पुत्र माधवराव पेशवा बने । नाना फड़नवीस उसके मंत्री नियुक्त हुए । नाना फड़नवीस के मार्गदर्शन में माधवराव ने महाराष्ट्र मंडल को पुनः शक्तिशली बनाया । थोड़े ही दिनों

में पेशवा के इस कर्तृत्व ने वह आशा जगा दी कि लोग पानीपत की हार को भूलने लगे। किन्तु माधवराव पेशवा अल्पायु सिद्ध हुए। वे दस वर्ष बाद ही चल सबे। माधवराव के बाद उनके कनिष्ठ भ्राता नारायण राव को पेशवा बनाया गया पर वह अपने भाई की तरह योग्य सिद्ध नहीं हुए। पेशवा नाना साहब का छोटा भाई राधोबा पेशवा बनने के सपने कई वर्षों से देख रहा था। पर नाना फड़नवीस और अष्ट प्रधान मंडल के सदस्य उसके नीच स्वभाव से परिचित थे अत: वे उसे पेशवा नहीं बनाना चाहते थे। छत्रपति शिवाजी अपने समय से ही यह परंपरा बना गए थे कि अष्ट प्रधान मंडल की सम्मति के बिना छत्रपति की नियुक्ति भी नहीं होगी।

महत्वाकांक्षी राधोबा ने गुप्त रूप से पेशवा नारायण राव की हत्या करवा दी। ऐसा कुकर्म महाराष्ट्र मंडल में अब तक नहीं हुआ था। फिर भी ना फड़नवीस ने अष्ट प्रधान मंडल की सहायता से राधोबा जैसे हत्यारे को पेशवा नहीं बनने दिया। नारायण राव के अल्पवयस्क पुत्र सवाई माधवराव को पेशवा बनाया गया। नाना फड़नवीस उसके संरक्षक बने।

परिस्थितियाँ विकटतर होती जा रही थीं। स्वार्थी लोग महाराष्ट्र को रसातल में ले जाने को उद्यत थे। इन सबके बीच नैतिक और निस्वार्थी नाना फड़नवीस राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य पालन के दुर्वह दायित्व को जिस तत्परता से निभाते रह वह अपूर्व धैर्य और साहस का ही कार्य था। वे सच्चे योगी थे, सच्चे संन्यासी थे चाहे वे राजकार्य में रत रहे हों।

उन दिनों महाराष्ट्र मंडल में नाना फड़नवीस जैसा धुरंधर राजनीतिज्ञ और महादाजी सिंधिया जैसा प्रबल पराक्रमी योद्धा दूसरा नहीं था। वे दोनों एक दृष्टि होते तो महाराष्ट्र साम्राज्य इतना शीघ्र अकाल कवलित न होता पर महादाजी सिंधिया, नाना फड़नवीस की तरह निस्वार्थी नहीं था। उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ी-चढ़ी थीं। नाना फड़नवीस जब तक जीवित रहे उन्होंने महादाजी को महाराष्ट्र मंडल से पृथक नहीं होने दिया। उनकी मृत्यु होते ही वह महत्वाकांक्षी पर अदूरदर्शी व्यक्ति विदेशी अंग्रेजों की चाल में आ गया।

माधवराव द्वितीय के समय में नाना फड़नवीस अष्ट प्रधान मंडल में महामात्य पद पर पहुँचे। यों पद से उन्हें कुछ लेना-देना था नहीं। एक प्रकार से वे तो विरक्त थे पर राष्ट्र की सेवा को अपना धर्म मानते हुए महाराष्ट्र के विगत गौरव को स्थायित्व

प्रदान करने का हर संभव प्रयास कर रहे थे । महामात्य पद पर प्रतिष्ठित होना इस दृष्टि से अतीव उपयोगी था ।

नाना फड़नवीस दूरदर्शी व्यक्ति थे । वे समझते थे कि हिन्दू साम्राज्य के वास्तविक शत्रु कौन हैं । महादाजी सिंधिया और राधोबा तो अभी तक यह भी नहीं जान पाए थे कि उनके वास्तविक शत्रु कौन हैं, वास्तविक शत्रु तो थे अंग्रेज और फ्राँसिसी व्यापारी जबकि राधोबा और महादाजी निर्बल मुगल सम्राट और राष्ट्रवादी हैदर अली व टीपू सुल्तान को ही अपने शत्रु समझते थे ।

नाना फड़नवीस अपने समय के चाणक्य माने जाते हैं । उन्होंने अपना गुप्तचर विभाग कितना तत्पर बना रखा था इस संबंध में प्रसिद्ध इतिहास कार मेजर वसु ने लिखा है-"नाना फड़नवीस के गुप्तचर विभाग का प्रबंध इतना उत्तम तथा पूर्ण था कि देश के किसी भी भाग में कोई भी महत्वपूर्ण घटना होती तो उस घटना के संबंध में भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा दर्जन की संख्या में वृतांत लेख ठीक समय उनके पास पहुँच जाते थे । इन भिन्न-भिन्न स्थानों से आए हुए वृतांत लेखों को पढ़कर वे अपने कमरे में बैठे-बैठे ही देश भर की घटनाओं की असलियत जान जाते थे ।

महादाजी सिंधिया को वे कहा करते थे-"यदि हमने मराठा साम्राज्य में अंग्रेजों को पाँव रखने दिया तो देश पराधीन हो जायगा । अंग्रेज उनकी राजनीति से भयभीत रहा करते थे । उन्हें महाराष्ट्र मंडल में एक ही व्यक्ति ऐसा दिखाई देता था जो उनके इरादों की तह तक पहुँचा था-वह व्यक्ति थे नाना फड़नवीस । अंग्रेज यह जानते थे कि नाना फड़नवीस जैसा चतुर और निस्वार्थी व्यक्ति पेशवा का महामात्य रहेगा तब तक उनकी दाल नहीं गलेगी । इसलिए वे नाना फड़नवीस को महाराष्ट्र मंडल से हटाकर उनके स्थान पर अदूरदर्शी व्यक्ति को नियुक्त करने का हर संभव प्रयास करते रहे थे । किन्तु अष्ट प्रधान मंडल और महाराष्ट्र की जनता का नाना फड़नवीस में अगाध विश्वास होने के कारण वे अपने नापाक इरादों में सफल नहीं हो सके ।

पूना के रेजीडेंट चार्ल्स मलेट ने लिखा था-"जब तक पूना दरबार में नाना फड़नवीस की मुख्यता है तब तक ब्रिटिश जाति को मराठा साम्राज्य में स्थिर स्थान प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए ।

नाना फड़नवीस और वारेन हेस्टिंग्ज के मध्य जो कूटनीतिक दाव-पेंच चले उसमें हेस्टिंग्ज को मुँह की खानी पड़ी । स्वार्थी राधोबा अंग्रेजों की शरण में जा पहुँचा था । वह पेशवा बनने का महत्वाकांक्षी था, उसने महादाजी सिंधिया को भी लोभ दिखाकर पूना दरबार में फूट डालने का प्रयास किया पर नाना के आगे उनकी एक न चली । नाना ने न केवल पूना दरबार को फूट से बचाया वरन् निजाम व भौंसले को भी अंग्रेजों के विरुद्ध करके अंग्रेजों को चकित कर दिया । नाना फड़नवीस ने अपने आचरण द्वारा यह अनुकरणीय उदाहरण रखा है कि राष्ट्र की सेवा पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ ही नहीं निष्काम भाव से की जानी चाहिए । राजनीतिक दाव-पेंचों का प्रयोग राष्ट्र विरोधियों के विरुद्ध ही किया जाय न कि अपने देशवासियों के साथ अपने स्वार्थ-साधन के लिए ।

अंग्रेजों ने १७५५ में सूरत में जो संधि की थी उसका उन्हें कोई लाभ नहीं मिला । वे उसे पेशवा बनाने में असमर्थ रहे । हारकर उन्होंने १७७७ में पूना दरबार से पुरंदर स्थान पर संधि की । इस संधि के पीछे उनका मतलब नाना फड़नवीस को महामात्य पद से हटना था पर वे इसमें भी असफल ही रहे । कुटिल अंग्रेज पुरंदर की संधि तोड़ने के प्रयास में थे । वे महाराष्ट्र मंडल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे । नाना भी चुप नहीं बैठे थे वे उसका मुँह तोड़ उत्तर देने के लिए सन्नद्ध थे । १७७९ में हुए इस युद्ध में अंग्रेज बुरी तरह हारे । उन्हें पूना दरबार से अपमानजनक संधि करनी पड़ी ।

अंग्रेजों के लिए इन संधियों का कोई महत्व नहीं था । वे कभी भी उन्हें तोड़ सकते थे । नाना फड़नवीस उनकी कुटिलता से परिचित थे । अत: उन्होंने एक बार उन्हें जड़-मूल से नष्ट कर देने के लिए उद्यत हो गए । उन्होंने निजाम, हैदर अली अर्काट के नबाब तथा मुगल सम्राट शाह आलम को इसके लिए तैयार किया । गवर्नर हेस्टिंग्ज को जब इस बात का पता चला तो उसे ब्रिटिश भारत राज्य का समूल नाश होता दिखाई पड़ने लगा । महादाजी सिंधिया को उसने लोभ दिखाकर संधि के लिए मध्यस्थ बना लिया । महत्वाकांक्षी सिंधिया वीर होते हुए भी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था अत: वह लोभ में आ गया । गवर्नर हेस्टिंग्ज और पूना दरबार के मध्य संधि हुई ।

नाना फड़नवीस के उद्योग से मृत्योन्मुख महाराष्ट्र मंडल एक बार पुन: भारत

की मुख्य शक्ति बन गया । मुगल सम्राट शाह आलम के मराठे संरक्षक बने । अंग्रेजों को दो-दोबार अपमानजनक संधि करनी पड़ी ।

नाना फड़नवीस की मृत्यु १६ फरवरी सन् १८०० में हुई । नाना की मृत्यु के साथ ही एक प्रकार से मराठों का सूर्य अस्त हो गया । उनके पश्चात ऐसा कोई योग्य और निस्वार्थी व्यक्ति उन्हें सम्भालने वाला नहीं रहा । अंग्रेजों का दाँव लग गया । उन्होंने स्वकेन्द्रित मराठा सरदारों को एक-एक करके निर्मूल कर दिया । नाना साहब ने चालीस वर्ष तक राष्ट्र की जो सेवा की वह आज भी आदर्श है । उन्होंने सवाई माधव राव बालक पेशवा के आत्मघात के पश्चात राधोबा के पुत्र बाजीराव को पेशवा स्वीकार किया क्योंकि पेशवा वंश में और कोई उत्तराधिकारी बचा ही न था । बाजीराव उनका जानी दुश्मन था फिर भी नाना की राष्ट्र निष्ठा देखो उसने उसके पेशवा रहते हुए भी महाराष्ट्र को डूबने नहीं दिया । ऐसे निष्काम देश सेवियों व निस्वार्थ राजनीतिज्ञों की आज भी देश को आवश्यकता है ।

महाराजा रणजीत सिंह
जिनका शरीर नहीं चरित्र सुंदर था

पंजाब के एक शहर में महाराजा रणजीत सिंह की सवारी निकल रही थी । रास्ते में हाथी पर बैठे हुए महाराज के सिर पर एक पत्थर आकर लगा और अगले ही क्षण आस-पास के सैनिकों ने एक बालक को पकड़ा । जो इस शोभायात्रा से बेखबर होकर सड़क के किनारे लगे बेर के पेड़ से फल गिराने के लिए पत्थर फेंक रहा था ।

सैनिकों ने राज-दरबार में उस बालक को उपस्थित किया । वह बहुत डर रहा था और महाराजा के सिर पर पट्टी बँधी हुई थी । सैनिकों ने शोभायात्रा के समय घटित घटना का विवरण कहा । महाराजा ने फैसला दिया-"जब पेड़ भी पत्थर फेंकने पर फल देता है तो मैं ही इसे दंड क्यों दूँ । इसने मुझे लक्ष्य कर तो पत्थर फेंका नहीं था, भूल से वह लग गया । इसमें बालक का कोई दोष नहीं है, उसे खुशकर वापस भेज दो ।"

महाराजा रणजीत सिंह के इस फैसले पर सबको आश्चर्य हुआ और सुखद हर्ष भी । उनके क्षमाशीलता के ऐसे कई किस्से सुने जाते हैं । वे उतने ही क्षमाशील थे जितने कि वीर । क्षमा ही तो वीरता का भूषण कहा गया है । अपने प्रति भूल से या जान-बूझ कर भी अपराध करने वालों को क्षमा कर देना ।

महाराजा रणजीत सिंह शरीर से बिल्कुल भी आकर्षक नहीं थे । उनका कद छोटा था । चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ और एक आँख भी नहीं थी । इतने कुरूप व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी भारत के इतिहास में अति सुंदर वीर के रूप में हुई है । वस्तुत: सौन्दर्य का शरीर से कोई संबंध नहीं है, वह तो व्यक्तित्व और चरित्र का ही अंग है । नाटे कद के व्यक्ति में ऊँचा और लंबा हृदय, नियति ने एक आँख छीन ली परंतु सूझ-बूझ और नीर-क्षीर विवेक-बुद्धि के रूप में संसार का अद्वितीय नेत्र उनके पास था । उनका चेहरा चेचक के दाग से बड़ा भद्दा लगता था परंतु उस पर देदीप्यमान दिव्य गुणों की आभा अच्छे-अच्छे चेहरों को मात दे देती थी और इस नैसर्गिक सौन्दर्य को प्राप्त किया था उन्होंने अपने समझदार पिता से । पालन-पोषण में उनके पिता ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था वह भी जन्म से ही कुरूप होने के कारण ।

१७८० ई० में पंजाब की एक रियासत के अधिपति महाराजा महासिंह के यहाँ उनका जन्म हुआ । जन्म के समय उनका शरीर बड़ा बैडोल और कुरूप था । लोगों की आम धारणा थी कि राजकुमार को सुंदर होना चाहिए । इसलिए राजपरिवार के अन्य सदस्यों और सर्वसाधारण को स्वाभाविक ही क्षोभ तथा चिंता हुई । जिसे उन्होंने महाराज महासिंह के सामने व्यक्त किया । महासिंह को दु:ख तो था परंतु इतना नहीं । उनकी तो मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति चेहरे-मोहरे से सुंदर नहीं कहा जाना चाहिए बल्कि सुंदरता का मापदंड तो उसका पराक्रम, शौर्य और साहस समझना चाहिए । सहानुभूति जताने और राजकुमार के कुरूप होने पर अपनी व्यथा कहने के लिए दरबार के कुछ लोग उनके पास पहुँचे तो उन्होंने ललकार कर कहा-"मुझे इस बात का जरा भी दु:ख नहीं है कि मेरा बेटा सुंदर नहीं है । पुरुष का पुरुषार्थी और पराक्रमी होना ही उसका सुंदर होना है और मैं अपने बेटे को निश्चय ही ऐसा बनाऊँगा ।

राजकुमार के कुछ बड़ा होने पर महाराजा महासिंह सचमुच ही अपने पुत्र को

सौन्दर्यशाली बनाने में जुट गए । वे रणजीत सिंह को घोड़े पर बिठाकर घुमाने ले जाते, घुड़सवारी करवाते, निशाना सिखाते और बंदूक चलाना बताते । रणजीत सिंह को उन्होंने ऐसे वातावरण में रखा जो वीरता और साहस की प्रेरणा देता था । रात को सोते समय भी महासिंह अपने लाड़ले को राम-लक्ष्मण की शौर्य कथायें सुनाया करते थे ।

ऐसा करने का उनका एक दूसरा उद्देश्य भी था । पंजाब उस समय कई छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था । कुल मिलाकर बारह राज्य थे । जो आपस में लड़-मर कर ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहते थे । सिक्ख जाति सदा से बहादुर और देश-भक्ति की परंपराओं का पालन करती रही है । गुरु गोविन्द सिंह ने पूरे सिक्ख समाज का जो सैनिकीकरण किया उससे बढ़े-बढ़े साम्राज्य तक भय खाते थे परंतु बाद में इस सशक्त संगठन को भी फूट और वैमनस्य के संक्रामक रोग ने ग्रसित कर लिया । जिसके परिणामस्वरूप पूरा पंजाब छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और उन सबकी शक्ति क्षीण होने लगी ।

महाराजा महासिंह बुद्धिमान और विचारशील भी थे । उन दिनों अंग्रेज और मुगल सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ जिस प्रकार सिक्ख जनता और भारतीय जन-जीवन को संत्रस्त किया करती थी उसे देखकर उनका मन बड़ा व्यथित होता । भारतीय समाज में घुस आए इन विकारों को दूर करने की ठान कर महासिंह ने सर्वप्रथम पंजाब में एक संगठित राज्य का स्वप्न देखा । उसे साकार करने के लिए प्रयत्न भी किया । अपने पुत्र रणजीतसिंह को वीर योद्धा के रूप में तैयार करने की साधना भी उन्हीं प्रयत्नों की एक कड़ी थी ।

रणजीत सिंह को युद्ध विद्या में निष्णात करने के साथ साथ उन्होंने अपने पुत्र के चरित्रगठन की ओर भी ध्यान दिया । क्योंकि जन स्तर पर प्राप्त की गई सफलताएं चरित्रवान व्यक्ति ही तो स्थायी रख सकता है । अन्यथा इस ओर कोई ध्यान न देने वाला उन सफलताओं के कारण अहंकारी और अभिमानी ही बनता है । व्यक्तिगत रूप से पुत्र को सच्चा सौन्दर्य प्रदान करने के लिए तथा उसे सामाजिक हितों के लिए उपयोगी बनाने हेतु महाराजा महासिंह ने अथक प्रयत्न किया ।

सन् १७९२ में उनका देहांत हो गया । उस समय रणजीत सिंह की आयु कुल बारह वर्ष की ही थी । भारत राष्ट्र का भावी उद्धारक असमय में ही अनाथ हो

गया । परंतु माता ने सूझ-बूझ से काम लिया और रणजीत को अपने संरक्षण में लेकर इसी उम्र में राजगद्दी सौंप दी । राजकाज देखने के लिए उन्होंने अपने एक विश्वासपात्र दरबारी लखपत राय को दीवान नियुक्त कर दिया । रणजीत सिंह का राज्याभिषेक हुए अधिक समय नहीं हुआ था कि राज-परिवार के सभी सदस्य उन्हें अपने हाथों का खिलोना बनाने के लिए तरह तरह की योजनायें रचने लगे । उन्होंने तथा उनकी माता ने बड़ी सावधानी बरती और उन षड़यंत्रों को विफल किया ।

कुछ वर्षों बाद शाहजमां नाम का एक महत्वाकांक्षी युवक अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बैठा । उसने सुना कि पंजाब जैसे धनधान्य सम्पन्न प्रांत के सीमांत क्षेत्र का राजा एक किशोर युवक है तो उसके मुँह में पानी भर आया और रणजीत सिंह के राज्य को जीतने के लिए लाहौर पर आक्रमण कर दिया । इस आसन्न संकट काल में रांजमहल के षड़यंत्र भी खुल कर बाहर आये । सत्रह-अठारह वर्ष के अवयस्क रणजीत सिंह के सम्मुख विकट समस्या उठ खड़ी हुई । जिसका समाधान अपने बस का नहीं लगा ।

परंतु रणजीत सिंह ने धैर्य से काम लिया । इस संकट काल में उनकी बचपन की शिक्षा काम आई । माता के परामर्श और स्वयं की सूझ-बूझ से उन्होंने स्वयं को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया और सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिए । शाहजमां के पास काफी बड़ी सेना थी और रणजीत सिंह के पास गिने-चुने किन्तु राजभक्त सिपाही । सेना का नेतृत्व उन्होंने स्वयं सम्हाला और शाहजमाँ का डटकर मुकाबला किया । आततायी सत्ता लोलुपता को विशुद्ध राष्ट्र भक्ति के हाथों पराजित होना पड़ा । शाहजमाँ लाहौर छोड़कर भागा और महाराज रणजीत सिंह ने शत्रु के प्रति उदारता का व्यवहार किया । उन्होंने युद्ध के दौरान नदी में डूब गई शाहजमाँ की तोपें, हथियार और छीना गया गोला-बारूद वापस कर दिया । अफगान सरदार को इस विचित्र व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ । उसका हृदय भी परास्त हो गया परंतु पंजाब विजय की लालसा अभी मिटी नहीं थी । अगली बार पूरी तैयारी के साथ आने की खिसियानी धमकी देकर वह अफगानिस्तान लौट गया ।

इस युद्ध के कारण महाराजा रणजीत सिंह का आत्मविश्वास बढ़ गया । उन्होंने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया । माँ ने पिता की उस चिर पालित इच्छा के संबंध में बताया जिसके अनुसार वे पंजाब को एक राष्ट्र के रूप में उदय होते देखना चाहते

थे । उनके मन में भी राष्ट्र-भक्ति के संगठन की प्रेरणाएं उठा करती थीं । अपने विश्वासपात्र सैनिकों को लेकर उन्होंने आस-पास के छोटे-छोटे राज्यों का विलीनीकरण और संघराज्य की स्थापना का अभियान छेड़ा ।

इस विजय यात्रा में उन्हें अकल्पित सफलता मिली । इन छोटे-छोटे राज्यों ने जल्दी ही हथियार डाल दिए और महाराजा रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली । एक विशाल राज्य की सुरक्षा के लिए एक सशक्त और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस सेना भी चाहिए । एक ओर से अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का भय था तो दूसरी ओर अफगानिस्तान के महत्वकांक्षी राजा शाहजमाँ का । इन दोनों संभावित शत्रुओं से रक्षा का प्रबंध करने के लिए उन्होंने अपनी सेनाओं का विस्तार करना आरंभ किया । पंजाब की उर्वरा भूमि तो सोना उगलती ही थी । इसलिए व्यय की कोई खास चिंता नहीं थी ।

उस समय जब वे अपनी सेनाओं का गठन कर रहे थे अंग्रेजी सरकार ने एक बड़े साम्राज्य को हस्तगत करने के प्रयत्न किये परंतु वे सब विफल हुए । अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी । अब वे महाराजा रणजीत सिंह से भय खाने लगे । उन्हें अपना मित्र बनाने के लिए प्रस्ताव रखा परिणामस्वरूप १८०९ में अमृतसर में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों में संधिवार्ता हुई और अंग्रेजों तथा सिक्खों में समझौता हुआ ।

हृदय से तो महाराजा रणजीत सिंह नहीं चाहते थे कि एक विदेशी शासन को अपना मित्र बनायें, परंतु सैन्य-शक्ति कमजोर होने के कारण समझौता करना ही उचित समझा । अमृतसर की संधि के अनुसार महाराजा रणजीत सिंह ने यह वचन दिया कि वे पूर्व दिशा की ओर अपना राज्य न बढ़ावें । इसके बदले में अंग्रेज जनरल एलार्ड और कोर्ट की सहायता से उन्होंने अपनी सेनाओं के आधुनिकीकरण का प्रस्ताव रखा । यह काम पूरा होने के बाद वे अपने वायदे के अनुसार पूर्व में तो नहीं बढ़े परंतु पश्चिम और उत्तर दिशा में कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया ।

सन् १८०९ में अफगानिस्तान का बादशाह शाहजमाँ उनके पास आया । वह इस बार खाली हाथ तथा अकेला था । कारण कि उसे गद्दी से उतार दिया गया था । महाराजा राजा रणजीत सिंह की दयालुता और उदारता के गुणों के बारे में सुनकर वह उनके पास आया था । रणजीत सिंह ने उसकी सहायता की जिसके बदले में निर्वासित शाह ने कोहेनूर हीरा भेंट में दिया । इधर उनका एक राष्ट्र-अभियान जारी

रहा । धीरे-धीरे उन्होंने अटक, कंगाड़ा, मुलतान, काश्मीर और पेशावर को भी अपने राज्य में मिला लिया ।

इतने बड़े साम्राज्य के अधिष्ठाता और कुशल शासक होते हुए भी महाराजा रणजीत सिंह एकदम अनपढ़ थे । फिर भी उन्होंने पढ़े-लिखे और उच्च शिक्षितों से अधिक काम किया और सफल हुए । इस सफलता का श्रेय उनके उच्च विचार, महान जीवन और उत्कृष्ट चरित्र को ही दिया जाना चाहिए । वे एक साथ वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ और उदार धर्मप्राण महामानव थे । युद्ध क्षेत्र में उन्होंने सदैव आगे रहकर अपनी सेनाओं का पथ-प्रदर्शन तथा साहसवर्द्धन किया । पिता से सुनी हुई कहानियों द्वारा उन्होंने राजनीति के मर्म को बहुत गहराई से समझा था ।

निष्ठावान, सिक्ख होते हुए भी धर्म और संप्रदाय के दृष्टिकोण से उन्होंने कभी पक्षपात नहीं किया । साथ ही उनमें प्रतिभाओं को समझने और पहचानने की भी अच्छी क्षमता थी । सिक्ख, हिन्दू, मुसलमान सभी संप्रदाय के व्यक्तियों का वे उचित सम्मान करते और हर जाति के प्रतिभा संपन्न व्यक्ति को आगे बढ़ने का मौका देते थे । उनके राजदरबर में मुसलमानों को भी वही स्थान था जो उनके सहधर्मी हिन्दुओं का । लोक-सेवा के लिए रात-रात जागने वाला यह महामानव २७ जून १८३८ को सदा के लिए सो गया । उन्होंने आजीवन संघर्ष करते हुए राष्ट्रीयता और एकता की भावना को मूर्तिमान किया वह आज के हर स्वाधीन भारत के लिए अनुकरणीय है ।

नर-केहरी हो तो नलवा जैसा

दस वर्ष का बालक एक दिन अपने गाँव में जयमल फत्ता की वीर-गाथा सुन रहा था । गाने में इतना दर्द था कि सुकुमार बालक का अंत:स्तल पीड़ा से भर गया । वह गीत में इतना खो गया कि उसे समय, स्थान तक का भान न रहा । वह अकबर के अन्याय का प्रतिकार लेने के लिए हुँकार कर उठा-"कहाँ है अकबर ! मेरी कृपाण देना । अभी उसको मातृभूमि को पद-दलित करने का मजा चखाता हूँ ।"

गाँव वालों ने बालक को पकड़कर झिंझोड़ा-"क्या कहते हो ? क्या सपना देख रहे हो ?" तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं गाना सुनकर उत्तेजित हो गया था ।

बालक के हृदय में जो पीड़ा उस गीत को सुनकर जागी थी वह फिर सोई नहीं । दस वर्ष का बालक क्या करता । उसकी बाल-बुद्धि में शुत्रु के पंजों से अपने देश को छुड़ाने का कोई कारगर मार्ग दिखाई नहीं देता था । उसी पीड़ा ने उसे तपाकर कुंदन बना दिया ।

एक दिन यही बालक विचारों में खोया हुआ गाँव के बाहर बैठा था । उसी समय किसी स्त्री का रुदन सुनाई दिया । यह आवाज पास के एक खंडहर से आ रही थी । वह वहाँ पहुँचा तो देखा कि एक देवी रो-रोकर आकाश-पाताल एक कर रही है । उससे पूछा-" बहन क्यों रोती हो ?" स्त्री की हिचकियाँ बँध गई । एक नादान बालक से अपनी लाज का रोना कैसे कहे । वह बोली-"तुम अभी छोटे हो, क्या करोगे सुनकर ।"

"मैं छोटा हूँ तो क्या शेर का बच्चा हूँ"-बालक ने कहा । स्त्री ने उसे प्यार से अपने अंक में भर लिया । विदेशियों के अत्याचार से पीड़ित इस अबला ने उसके हृदयकुंड में जल रही अग्नि को और धधका दिया ।

अब बालक ने अपने आपको शक्ति सम्पन्न बनाना आरम्भ किया, बिना शक्ति के अत्याचार का प्रतिकार करने की सोचना शेखचिल्ली का सपना ही था । बालक ने अपनी सामर्थ्य का विकास किया । शरीर को बलिष्ठ बनाया । तलवार चलाने, घुड़सवारी करने तथा युद्ध कला में उसने पूरी निपुणता प्राप्त कर ली । सच है जब तक प्रयास नहीं किया जाता, कुछ भी सम्भव नहीं होता । पर जब प्रयास पूरे मनोयाग और संकल्प के साथ किया जाता है तो सफलता की राह खुल जाती है । यही बालक आगे जाकर हरीसिंह नलवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसके नाम से विदेशी आक्रमणकारी काँपते थे ।

युवावस्था जीवन का बसंत है । इसका सदुपयोग करने पर व्यक्ति बहुत कुछ कर जाता है । इस काल में पर्वतों का स्थान बदलने व नदी की राह मोड़ने जैसे असम्भव कार्य सम्भव बनाए जा सकते हैं । हरीसिंह ने इसका सदुपयोग किया । तेरह वर्ष की आयु में ही वह घर-परिवार का सुख छोड़कर महाराजा रणजीत सिंह की सेना में भर्ती हो गया ।

हरीसिंह ने अपनी योग्यता के बलबूते पर महाराजा का विश्वास पा लिया । एक बार महाराजा के शिकार खेलने के कार्यक्रम में उनके साथ गया था ।

असावधान हरीसिंह पर शेर ने हमला कर दिया । हरीसिंह के पास शस्त्र निकालने का समय भी न था । हरीसिंह स्वयं भी शेर से कम साहसी न था । वह विचलित नहीं हुआ । उसने सिंह के जबड़े पकड़कर इतने जोर से दबाये कि वह तिलमिला उठा और पंजों से इसे चीरने को उद्यत हुआ पर हरीसिंह ने जबड़े नहीं छोड़े, इतने जोर से दबाए कि वह ठंडा हो गया ।

ऐसे समय यदि साहस से काम न लिया जाता तो मृत्यु तो होती ही, साथ ही कायरता का कलंक भी लगता । उपहार में इसे सेनापति का पद मिला और संकटों से जूझने की अपार शक्ति भी मिली । इसी दिन इसको रणजीतसिंह ने 'नलवा' (सिंह) की उपाधि दी ।

बचपन में रक्त में जो उबाल आया था-मातृभूमि को मुक्त कराना और माँ-बहनों के शील हरण का बदला लेना-ऐसी सामर्थ्य अब उस बालक ने पाली थी । उसने सारा जीवन इन आततायियों से संघर्ष में बिताया । ऐसा प्रचंड व्यक्तित्व उनके सामने उभारा कि वे इसके नाम से काँपने लगे ।

१८०७ में कसूर के जिले पर नलवा के सेनापतित्व में आक्रमण किया गया । दस दिन तक तोपों की गोलाबारी से दुर्ग का बाल भी बाँका न हुआ । हरीसिंह ने देखा कि यों काम नहीं बनेगा । वह स्वयं मौत की परवाह न करके बरसते गोलों में दुर्ग की दीवार पर कुल्हाड़ी लेकर टूट पड़ा । पीछे सैनिक भी वैसा ही करने लगे । देखते-देखते बड़ा सा छेद हो गया । उसमें बारूद भरकर आग लगा दी । दीवार टूट गई । सिख सेना को शानदार विजय मिली ।

कसूर के बाद मुलतान पर चढ़ाई की गई । इसमें नलवा बुरी तरह घायल होकर भी लड़ता रहा और विजयश्री वरण की । मुलतान का नवाब बड़ा ही धोखेबाज था । हार जाने पर हर्जाना देकर छूट जाता और फिर स्वतंत्र हो जाता । इस प्रकार उसे सात बार इस सिंह ने हराया ।

नलवा ने गिन-गिनकर प्रतिशोध लिया । एक सुसंगठित स्वदेशी राज्य स्थापित करके आक्रमणकारियों को सदा के लिए भयभीत करने का काम इसने बड़ी कुशलता से किया । मुलतान के बाद कश्मीर पर विजय प्राप्त की । कुछ समय तक वह कश्मीर का सूबेदार भी रहा ।

शक्ति का सदुपयोग करके बीरवर ने सदा के लिए अपना नाम अमर किया । उसकी तलवार बिजली की तरह चलती थी । इसके चलने से विनाश करने वालों को शिक्षा मिलती थी, नागरिक सुख की नींद सोते थे । मातृशक्ति का अपमान करने का साहस कोई नर-पशु नहीं कर पाता था ।

कश्मीर के सूबेदार के रूप में नलवा ने वहाँ के नागरिकों को इतना स्वच्छ व सुंदर शासन दिया कि जब यह वहाँ से चला तो लोग रोने लगे । वहाँ अधिकांश नागरिक मुलसमान थे । किसी को उसने धर्म परिवर्तन के लिए नहीं कहा । किसी की मजाल नहीं थी कि किसी माँ-बहन की ओर बुरी नजर से देख ले । एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में हरीसिंह नलवा ने बलवानों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया ।

मिचनी के नवाब ने कामांध होकर रास्ते में जाती हुई एक डोली को लूट लिया और उसमें बैठी हुई विवाहिता को अपनी वासना की भेंट चढ़ाने ही वाला था कि इसकी सूचना हरिसिंह को मिली । उसने नबाव पर आक्रमण करके उसे पकड़ लिया और तोप से उड़ा दिया ।

नलवा चाहता था कि व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर अंकुश रखे, उसे सन्मार्गगामी बनाए, पतन की राह पर न चलने दे । यदि कोई इस प्रकार के मार्ग पर चल पड़ा है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-सामर्थ्य बढ़ाकर उसे दंड दे ताकि भविष्य में कोई इस प्रकार का दुस्साहस न करे, समाज में अन्यायपूर्ण व्यवस्था न फैलाए ।

३० अप्रैल १८३७ के दिन भारत माँ का यह लाड़ला सपूत पेशावर के युद्ध में सदैव की नींद सो गया । वीरत्व के इतिहास में नलवा ने एक नया अध्याय जोड़ा है । आओ हम इस वीर की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करें कि हम बलवान बनेंगे और उस बल का सदुपयोग अन्याय के प्रतिकार करने में लगायेंगे ।

नयी पीढ़ी के प्रेरणा स्त्रोत
तात्या टोपे

युवा नर्तकी अजीजन तात्या टोपे की वीरता की अनेक कहानियाँ सुन चुकी थी । एक बार उसे दर्शन करने का भी अवसर मिल गया था । गेंहुआ रंग, बड़े-बड़े नेत्र, भव्य चेहरा और निखरता हुआ यौवन देखकर अजीजन ने प्रणय के स्वप्न संजो लिए । समाज के बंधनों को त्याग कर सर्वस्व समर्पित करने की भावना से वह तात्या टोपे से मिलने गयी । अजीजन के प्रेम प्रस्ताव को सुनकर तात्या टोपे ने बड़ी प्रसन्नता से कहा अजीजन ! मेरे जीवन का लक्ष्य है अंग्रेजों को देश से निकालना और इसी की पूर्ति में मैं सदैव प्रयत्नशील रहता हूँ । यदि वास्तव में तुम मुझसे प्रेम करती हो और मुझे सुखी देखना चाहती तो आओ तुम्हारा स्वागत है मेरे साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलो । स्वतंत्रता प्राप्ति के इस महायज्ञ में तुम भी अपनी आहुतियाँ दो ।

अजीजन के जीवन का वह दिन सबसे महत्वपूर्ण था जब उसने अपनी सारी सम्पत्ति तात्या टोपे के चरणों में समर्पित कर दी और स्वयं उसकी सहायक बन गई । तात्या की योजनानुसार वह अंग्रेज सैनिकों के मध्य जाकर नृत्य और संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत कर उनका मन बहलाव करने लगी और उनके रहस्यों का पता लगा कर तात्या तक पहुँचाने लगी । अजीजन इस तरह तब तक निष्ठापूर्वक कार्य करती रही जब तक एक दिन युद्ध क्षेत्र में उसका भी बलिदान न हो गया । इस प्रकार काला-कलूटा लोहा भी पारस रूपी विचारों से सोना हो गया ।

जून १८५८ तक प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारियों का प्राय: अंत हो चुका था । कितने ही वीर माँ की गोद में सदैव के लिए चिर निद्रा में लीन हो चुके थे । कुछ पकड़े गए और कुछ ने आत्म समर्पण कर दिया । ऐसी स्थिति में अंग्रेजी सेना को चुनौती देने वाले तात्या टोपे ही शेष रहे थे । सात अंग्रेजी सेनायें तात्या को पकड़ने के लिए परेशान थीं । इन सेनाओं का नेतृत्व करने वाले प्रख्यात जनरल राबर्ट्स, मेजर राव, कर्नल समसेंट, ब्रिगेडियर राबर्स, जनरल मिचल और ब्रिगेडियर होनर थे ।

तात्या टोपे के पास न कोई सेना थी और न किसी प्रकार की सम्पत्ति । देश

सेवा की भावना और आत्म विश्वास ही उसे प्रेरणा दे रहे थे । ब्रिटिश सरकार के पास सैन्यबल और शस्त्र बल की कोई कमी न थी फिर भी बड़े-बड़े अधिकारी तात्या टोपे की दूरदर्शिता और रणकुशलता का लोहा मानने लगे थे । तात्या के छापा मार युद्ध से अंग्रेज सैनिक बड़े तंग आ गए थे ।

तात्या अरक्षित स्थानों पर छापा मारकर उन्हें छीन लेते और फिर नौ दो ग्यारह हो जाते थे । ब्रिटिश इतिहासकार कर्नल मालकम ने लिखा भी है-'भारी अभावों एवं बाधाओं के बावजूद तात्या टोपे दो लंबे वर्षों तक अंग्रेजों से लोहा लेता रहा और अंग्रेजों को जितना अधिक पेरशान और दु:खी उसने किया अन्य किसी विद्रोही नेता ने नहीं किया ।'

सन् १८१४ । अहमद नगर तालुके का जोला परगना और उसमें येवला नामक गाँव । जहाँ ब्राह्मण कुल में श्री पांडुरंग येवलकर के घर तात्या टोपे का जन्म हुआ । इनका वास्तविक नाम रामचंद्र पांडुरंग येवलकर था पर इतिहास में तात्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हुए । इसकी भी एक बड़ी मनोरंजक घटना है ।

पिता पांडुरंग अंतिम पेशवा बाजीराव के सेवक थे । बाजीराव ने प्रसन्न होकर उनके पुत्र को रत्नजटिल टोप पहनाया और 'टोपे कह कर पुकारा तभी से तात्या येवलेकर तात्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हो गए । पेशवा के दरबार में पिता के नौकर होने के कारण तात्या टोपे को बचपन से ही राज-काज को निकट से देखने का अवसर मिल चुका था । बचपन के दिन नाना साहब, लक्ष्मीबाई और राव साहब पेशवा के साथ बिठूर में बीते थे । अत: देशभक्ति की भावना का प्रस्फुटन बचपन से होने लगा था । जवानी आते ही केवल एक ही प्रश्न रह-रह कर सामने आता था कि अपनी मातृभूमि को परतंत्रता की बेढ़ियों से कैसे मुक्त किया जाय । इतने बड़े देश पर गिने-चुने विदेशी व्यक्तियों का शासन देश प्रेमियों को एक प्रकार की चुनौती था ।

तात्या की वाणी में जादू था और व्यक्तित्व था आकर्षित । अत: यह देशभक्त जहाँ जाता शत्रुओं तक को मित्र बना लेता था । अंग्रेज चरखारी व ग्वालियर की घटनाऐं अपनी आँखों से देख चुके थे । जब हैवलाक द्वारा कानपुर वापस छीन लिया गया तो राव साहब, नाना साहब, लक्ष्मीबाई तथा तात्या टोपे ने मिलकर यह निश्चय किया कि ग्वालियर पहुँचकर युद्ध वहीं से जारी रखा जाये ।

ग्वालियर नरेश शिंदे अंग्रेजों के मित्र थे अतः इनका सामना करने के लिए वे आगे आये पर आश्चर्य यह कि क्रांतिकारियों ने ग्वालियर की सेना पर ऐसा जादू कर दिया कि उनके सैनिकों ने आगे बढ़कर इन देशभक्तों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। सैनिक दृष्टि से यह क्रांतिकारियों की विजय ही थी। यदि उस समय भारतवर्ष में आधा दर्जन ही तात्या टोपे और होते तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता।

इस समय क्रांतिकारियों की प्रसन्नता का भी ठिकाना न था वह विजयोत्सव मना रहे थे। उत्तर की ओर बढ़ने तथा दक्षिण में क्रांति फैलाने का जो सुझाव तात्या ने दिया था उस ओर उनके क्रांतिकारी साथियों ने ध्यान ही नहीं दिया। इस अवसर का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों को इस बात का डर था कि सैनिक फिर कहीं गोली चलाने से इन्कार न कर दें इसलिए उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ से काम लेकर ग्वालियर नरेश जयाजीराव को सबसे आगे कर दिया। जिससे ग्वालियर सेना में स्वामिभक्ति की भावना उमड़ पड़ी और क्रांतिकारियों को हार खानी पड़ी। महारानी लक्ष्मीबाई भी इसी समय युद्ध में काम आईं।

तात्या टोपे अब जयपुर की ओर बढ़ना चाहते थे पर अंग्रेजों ने पूरी शक्ति लगाकर उन्हें उस ओर न जाने दिया। अब तात्या ने ९ जुलाई १८५८ को टोंक की ओर बढ़ने की तैयारी की, पर उनकी अगवानी के लिए नवाब ने अपनी सेना पहले ही भेज दी थी। जो सेना तात्या पर आक्रमण करने आयी थी वह तोपों सहित उनसे आ मिली और नवाब का प्रयत्न बेकार गया।

तात्या टोपे उदयपुर की ओर बढ़े तो वहाँ भी उनका स्वागत अंग्रेजी सेनाओं ने किया और उन्हें नगर में घुसने ही न दिया। ऐसी स्थिति में तात्या झालाबाड़ चले गए और यहाँ का राजा भी अंग्रेजों का समर्थक था पर तात्या के जादू ने यहाँ भी कार्य किया और उसकी सेनाएं आ मिलीं और तीस तोपें सौंप दीं। तात्या ने वहाँ के राजा से १५ लाख रुपया बसूल किया।

तात्या का कुशल नेतृत्व सिरोंज तथा ईसागढ़ में भी देखने को मिला जहाँ १५ हजार सैनिक उसकी सहायता को तैयार हो गए। नागपुर होते हुए जब वह होल्कर के राज्य में पहुँचे तो वहाँ भी सेना की एक टुकड़ी ने अपनी सेवाएं तात्या को सौंप

दीं । अब वह बड़ौदा की ओर बढ़े पर उनके प्रयत्नों को विफल कर दिया गया ।

तात्या का स्वास्थ्य अब खराब होता जा रहा था । शरीर थक कर चूर-चूर हो गया था । जयपुर वापस आने पर दौसा व सीकर में उन्हें पराजित होना पड़ा । अतः वे ग्वालियर राज्य के जागीरदार मानसिंह के यहाँ शरण लेने पहुँचे । मानसिंह से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी पर उन्होंने विश्वासघात किया जिससे शिवपुरी के जंगल में उन्हें बंदी बना लिया गया ।

अंग्रेज इस नरसिंह को पकड़ने के लिए वर्षों से तैयारी कर ही रहे थे । अब वे प्राण दान क्यों देते जनरल मीड़ ने राजद्रोह के अपराध में तात्या टोपे को फाँसी की सजा सुना दी और १८ अप्रैल १८५९ को वह नरसिंह शिवपुरी में हँसते-हँसते मृत्यु को वरण कर गया । इतिहास की दृष्टि से तात्या की मृत्यु रहस्यमय बनी हुई है ऐसा भी कहा जाता है कि मानसिंह ने अंग्रेजों की चाल का जवाब चाल से देने के लिए किसी गलत व्यक्ति को तात्या के नाम से बंदी बनाया था और तात्या को फाँसी नहीं दी गई वरन् उनकी मृत्यु गुजरात में हुई । उनके माता-पिता की मृत्यु हुई तो तात्या काशी में ही थे ।

अमर बलिदानी

वासुदेव बलवंत फड़के

हाईस्कूल पास कर लेने के बाद पिता ने कहा कि अब कहीं रोजगार तलाश करना चाहिए । उन्होंने एक जगह नौकरी भी तलाश दी परंतु वासुदेव बलवंत फड़के के हृदय में शिक्षा की अतृप्त प्यास थी । पिता से इसी बात पर मतभेद हो गया और उन्हें घर छोड़ देना पड़ा । फड़के का परिवार पेशवाओं के जमाने में बहुत प्रतिष्ठित माना जाता था परंतु धीरे-धीरे हालत बिगड़ती गयी । इसी साधारण परिवार में वासुदेव बलवंत फड़के का जन्म हुआ ४ नवंबर १८४५ को । १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम जब लड़ा गया तो उनकी आयु कुल १२ वर्ष की थी । शहर में अंग्रेजों के अत्याचार, निरीह और निरपराध लोगों को परेशान होते देखकर इस

अबोध बालक के मन में मौजूदा शासन के प्रति तीव्र घृणा हो गयी और कुछ कर गुजरने की इच्छा मन में जागी ।

पिता से मतभेद हो जाने पर उन्होंने घर छोड़ दिया और बंबई आ गए । वहाँ खुद के पैरों पर खड़ा होना पड़ा क्योंकि पिता ने किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया । उन्होंने जी० आय० पी० रेल्वे कंपनी में २० रु० प्रतिमास वेतन पर नौकरी कर ली और पढ़ने भी लगे । इसके बाद कुछ योग्यता अर्जित कर लेने पर ग्राणृ मेडिकल कालेज में नौकरी मिल गयी । यहाँ भी वे स्थायी रूप से टिक नहीं सके । कुछ ही दिनों बाद उन्हें नौकरी छोड़ देनी पड़ी ।

इसी बीच उनका विवाह भी हो गया । १८७२ में फड़के न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के सम्पर्क में आये । तो उन्हें लगा कि वे अपने उद्देश्य से भटक रहे हैं । पेट तो सभी पालते हैं, जानवर भी और मनुष्य भी । रानाडे के भाषणों से उन्होंने समझा कि किस प्रकार देश की सम्पत्ति बाहर जा रही है । गोरे स्वामी जिन लोगों के बल पर अपने आपको समृद्ध और सम्पन्न बनाते हैं, उन्हें ही किन निगाहों से देखते हैं । भारतीयों का खून चूसकर वे पुष्ट और मोटे होते जा रहे हैं । अपनी नौकरी में भी उन्होंने इन बातों को प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया । उनके हृदय में विद्रोह की आग सुलगने लगी और पेट-प्रजनन परायण जीवन के बंधन से निकलकर भारत माता को विदेशी दासता से मुक्त कराने का लक्ष्य चुना ।

प्रतिदिन देखी घटनाओं पर अपना दृष्टिकोण और प्रतिक्रियायें उन्होंने एक डायरी के रूप में लिखना आरम्भ किया । इसमें व्यक्त विचारों को देखने पर प्रतीत होता है कि वे तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रति बहुत ही सुलझा हुआ और प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे । अपनी गतिविधियों को और अधिक तीव्र करते हुए उन्होंने व्याख्यान दे देकर लोगों को समझाना शुरू किया । अपने क्रांतिकारी लेखों के पेम्पलेट छपवा कर वितरित भी किए । उस समय कुछ लोग ऐसे भी थे जो अंग्रेजी राज्य को ईश्वर की कृपा समझते थे । उनकी धारणा थी कि यदि अंग्रेज भारत के शासन नहीं रहे होते तो देश न जाने किधर जाता । ऐसी स्थिति में फड़के ने अनपढ़ और अशिक्षित लोगों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया । पूना शहर के आस-पास रामोसी जाति के लोग डेरा डाले हुए पड़े थे । गाड़िया लोहारों की तरह यह जाति महाराष्ट्र की घुमक्कड़ जाति है । इन्हें जरायमपेशा

माना जाता है । कहने को ये लोग अपने को भगवान राम का वंशज कहते हैं परंतु जनता इन्हें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखती थी । कुछ भी हो इस जाति के लोग बड़े साहसी और वचन के पक्के होते हैं । फड़के ने सोचा इन्हें बड़ी आसानी से विद्रोह के लिए तैयार किया जा सकता है । क्योंकि ये मरने-मारने से बिल्कुल नहीं डरते थे ।

आवश्यक लगा कि इन्हें संगठित किया जाय । इसलिए कुछ रामोसी जाति के लोगों को समझकर उन्होंने धनी अंग्रेजों और उनके पिट्ठू साहूकारों को लुटवाया, प्राप्त हुए धन से अस्त्र-शस्त्र खरीदे गए । इस जाति के लोग फड़के को अपना नेता तथा महाराज समझने लगे । वे इन लोगों को साथ लेकर सह्याद्रि पहाड़ियों में जाकर रहने लगे और वहीं से अपने क्रिया-कलाप चलाने लगे । सरकार तक इस बात की खबर पहुँची और उन्हें पकड़ने की आज्ञा निकाली गयी । चारों ओर इस आशय के सरकारी इश्तहार दिखाई देने लगे कि जो भी फड़के को जिंदा या मरा हुआ पकड़कर लायेगा उसे इनाम मिलेगा ।

जनता में फड़के बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे । इश्तहार के नीचे बंबई के अंग्रेज सर रिचर्ड-टेम्पल का नाम अंकित होता । जहाँ भी इश्तहार लगे होते दो एक दिन बाद नीचे लिखा होता महाराज फड़के अजेय हैं । कुछ दिनों बाद रामोसी जाति के लोगों ने फड़के की ओर से यह विज्ञापन निकलवा दिया-"जो भी व्यक्ति रिचर्ड टेम्पल का कटा हुआ सिर लायेगा उसे फड़के के लिए घोषित इनाम का ड्यौढ़ा इनाम मिलेगा ।" इससे अंग्रेजों में बड़ा आतंक फैल गया ।

इन्हीं दिनों महाराष्ट्र में अकाल पड़ा । यह समय क्रांति के लिए उपयुक्त समझकर फड़के और अधिक सक्रिय हो गए । सरकार ने भी फड़के को गिरफ्तार करने के लिए तीव्र दमन चक्र चलाया । वे अपने साथियों के साथ एक जंगल से दूसरे जंगल भागते रहे । कई बार उनकी जान खतरे में पड़ गयी । परंतु उन्होंने आपदाओं और कठिनाइयों की कोई चिंता नहीं की एवं अपने कार्य में दृढ़तापूर्वक लगे रहे । सरकार ने उन्हें पकड़ने के लिए पुलिस को सतर्क कर दिया एवं सेना का भी प्रयोग किया । कुछ स्थानों पर मुठभेड़ें भी हुईं । फड़के के कुछ विश्वसनीय साथी मारे भी गए ।

लगातार भाग-दौड़ करते रहने, फाकाकशी से व धन का अभाव सहते रहने के कारण उनका स्वास्थ्य गिरने लगा । एक बार उन्हें लगा कि वे अपना लक्ष्य

प्राप्त नहीं कर सकेंगे । इसलिए उन्होंने हँसते-हँसते मरने की ठान ली । लेकिन यह विचार देर तक टिका नहीं रह सका । उनमें नये साहस का संचार हुआ । पुनः उन्होंने दूने वेग से क्रांति के प्रयास आरंभ किये ।

लेकिन स्वास्थ्य जवाब दे गया । एक मित्र कृष्णजी पंत ने उन्हें अपने यहाँ ठहराया और विश्राम करने की सलाह दी । फड़के शरीर से तो आराम करते परंतु उनका आत्मिक उद्वेग शांत नहीं हुआ । यहीं दुर्भाग्य से कृष्णजी पंत की पत्नी ने फड़के के अपने यहाँ ठहरने की बात, बातों ही बातों में पड़ोसन से कह दी । बात कानों-कान फैलने लगी । होते-होते पुलिस और सेना को इसकी खबर लगी । मेजर डेनियल बड़ी संख्या में सैनिकों को लेकर फड़के को पकड़ने पहुँचे । घर जाकर तलाशी ली तो पता चला कि शिकार उड़ गया है । कृष्णजी पंत और फड़के वहाँ से निकल गए थे ।

दोनों मित्र समझे कि हम बच गए हैं । आगे चलकर फड़के ने कृष्णजी पंत को वापस जाने की सलाह दी । दोनों साथी अलग हो गए । इधर डेनियल अपने सैनिकों समेत उन्हें खोजते रहे । सभी सिपाहियों को तीन टुकड़ियों में बाँट दिया गया । फड़के बीमार हालत में ही अपने पुराने साथियों को खोज रहे थे । दोरनभागी नामक गाँव के एक मंदिर में एक रात्रि को वे थके-हारे सो रहे थे तभी डेनियल अपने सिपाहियों समेत वहाँ पहुँच गया ।

अपने शिकार को पहचान कर वह उनकी छाती पर कूद पड़ा । फड़के ने ललकार कर कहा-"हिम्मत है तो सामने आओ । छुपकर वार क्यों करते हो ।" अपने जर्जर शरीर से ही उन्होंने डेनियल का मुकाबला किया । वे अपने शत्रु पर हावी हो ही रहे थे कि फौजियों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया ।

३१ अगस्त १८७१ को उन पर मुकदमा चलाया गया । सेशन जज ने उन्हें आजन्म काला पानी की सजा दी । फड़के को लगा कि अब जीवन समाप्त ही हुआ इसलिए भारत की आजादी के लिए उन्होंने भगवान से प्रार्थना की और कहा-"अंग्रेज रूपी दानवों का नाश करने के लिए दधीचि की तरह मेरा बलिदान सार्थक हो ।" अंडमान द्वीप समूह में कुछ समय तक कारा-जीवन बिताकर उनमें फिर से भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ने की इच्छा जागी । वे वहाँ से भाग निकले । किसी प्रकार के साधन न होने के कारण उन्होंने तैरकर समुद्र पार करने का निश्चय

किया । दुर्भाग्य से सत्रह मील ही तैर पाये थे कि वे पकड़ लिये गये । कुछ दिनों बाद फरवरी १८८३ में उनका देहांत हो गया ।

वस्तुतः वासुदेव बलवंत फड़के ने अपने ढंग से विद्रोह की तैयारी की थी और उसी के लिए उन्होंने जीवन अर्पित कर दिया । स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में वे सदैव अमर रहेंगे ।

स्वतंत्रता के मंत्र दृष्टा
लोकमान्य तिलक

अध्यापक ने विद्यार्थियों को शीघ्र लेख लिखवाया । एक विद्यार्थी ने 'सन्त' शब्द को तीन अलग-अलग वाक्यों में अलग प्रकार से लिखा-सन्त, सनृत और संत । अध्यापक ने प्रथम शब्द को सही व शेष दो को गलत कर दिया । बालक ने अध्यापक को बताया आपने मेरे सही शब्दों को गलत बताया है । आध्यापक इसे मानने को तैयार नहीं हुए । बालक भी अपनी जिद पर अड़ गया, बात मुख्याध्यापक तक पहुँची । उन्होंने बालक को सही बताया ।

बालक के इस कार्य को उद्दंडता नहीं कहा जा सकता । वह पूरा मन लगाकर पढ़ता था । उसके परिश्रम का फल यह होता था कि वह कक्षा में सबसे आगे रहता । सही को वह गलत कैसे स्वीकार लेता ? यह बालक आगे जाकर भारत के इतिहास पुरुष बाल गंगाधर तिलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इनका जन्म महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के चिक्कल नामक गाँव में २३ जुलाई १८५६ को हुआ । इनकी माता का देहावसान वचपन में ही हो गया था । इनके पिता गंगाधर एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे ।

अपने परिश्रम के बल पर ये कक्षा में मेधावी छात्रों में गिने जाते थे । पढ़ने के साथ-साथ व्यायाम का अभ्यास करके इन्होंने अपने दुबले-पतले शरीर को पुष्ट कर लिया ।

वे पूना कालेज में पढ़ रहे थे तब इनके पिता का देहावसान हो गया । लोगों ने

समझा अब उनका पढ़ना छूट जाएगा पर वे धुन के पक्के तथा धैर्यवान थे । उन्होंने बी० ए०, एल० एल० बी० करके ही छोड़ा ।

पढ़-लिखकर इन्होंने नौकरी नहीं की । परिवार का भार उठाने वाला कोई न होते हुए भी इन्होंने अपने मन में जल रही देश-प्रेम की ज्वाला को बुझने नहीं दिया । यह उन दिनों की बात है जब कांग्रेस पालने में झूल रही थी । अंग्रेजों की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने की पद्धति ही देशभक्त कहे जाने वाले लोग भी अपना रहे थे । तिलक उस समय भी खुले विद्रोही के रूप में सामने आये ।

इन्होंने देखा कि उस समय की शिक्षा अंग्रेजों के लिए नौकर पैदा करती है । इन्होंने पूना में 'न्यू इंगलिश स्कूल' नामक विद्यालय खोला । इसमें अल्प वेतन पर इन्होंने अध्यापक का कार्य भी किया । इस विद्यालय में शिक्षा के साथ-साथ देश-प्रेम व भारतीय संस्कृति की शिक्षा भी दी जाती थी ।

वे जानते थे कि मुट्ठी भर अंग्रेज हमारे देश के शासक बने बैठे हैं । इसका एकमात्र कारण हम भारतवासियों का सहयोग देना है । भारतवासी उनसे सहयोग न करें तो वे यहाँ शासन नहीं कर सकते । असहयोग के लिए जागरण आवश्यक है । जन-जागरण के उद्देश्य से वे पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे ।

'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के माध्यम से लोकमान्य ने भारत की जनता में एक अपूर्व जोश भर दिया । तिलक के इन पत्रों के शब्द लोगों के लिए कानून बन गए । होते भी क्यों नहीं सम्पन्न परिवार के उत्तराधिकारी बाल गंगाधर चाहते तो सुख-सुविधा का जीवन जी सकते थे । अंग्रेजों की कृपा पा सकते थे । ऊँचा पद उन्हें मिल सकता था । वह सब छोड़कर उन्होंने अपने जीवन का एक-एक क्षण राष्ट्र देवता के लिए समर्पित कर दिया । इस त्याग और तप के कारण वे लाखों के हृदय सम्राट बन गए ।

महाराष्ट्र में शिवाजी एवं गणपति उत्सवों के माध्यम से राष्ट्र प्रेम की ज्योति को सदा प्रज्ज्वलित रखने का एक स्थायी माध्यम बनाया । इन पर्वों और त्यौहारों पर देश पर सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणाएं दी जाती थीं । इससे अंग्रेजों की कृपा चाहने वाले भारतीयों की आँखों में व अंग्रेजों की आँखों में वे काँटे की तरह खटकने लगे ।

तिलक ने घोषणा की-"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ।" इसी अधिकार को पाने के लिए, भारत माता को दासता से मुक्त कराने के लिए इस

बलिदानी ने अपना सुख-वैभव, मान-सम्मान, त्याग-तप, प्रतिभा-सम्पदा और जीवन का एक-एक क्षण न्यौछावर कर दिया । उस समय इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं था । इस कारण सच्चे अध्यात्मवादी लोकमान्य ने सम्पूर्ण समर्पण कर दिया ।

निर्भीक होकर वे मैदान में कूद पड़े । सरकार ने देखा कि इस प्रकार आजादी के दीवाने थोड़े से भी हो जायेंगे तो वे इन सोये हुए भारतीयों को जगा देंगे । फिर हम थोड़े से अंग्रेज इस देश पर शासन नहीं कर पाएंगे । वे किसी प्रकार इन्हें बंदी बनाना चाहते थे । उन्हें बहाना भी मिल गया । उन्होंने पूना में हुई एक अधिकारी की हत्या व बंगाल के बम कांड का सारा दोष इनके ऊपर थोपकर इन्हें बंदी बना लिया । उनके लेखों को 'देशद्रोह' की संज्ञा दी । सितंबर १८०९ में इन्हें देश निकाले व सात वर्ष की सजा दी गई व रंगून की मांडले जेल में भेज दिया ।

अपने रक्त की एक-एक बूँद व जीवन का एक-एक क्षण राष्ट्र देवता को अर्पित करने वाले यह महाप्राण वहाँ जेल में भी निष्क्रिय नहीं बैठे । शरीर भले ही कुछ न कर पाया हो पर मानसिक व आत्मिक चेतना प्रखर रूप में लगी रही । वहाँ उन्होंनें गीता रहस्य' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें सच्चे कर्मयोग की विषद् व्याख्या की गई है । यह मूल मराठी व अनुदित रूप से सभी भाषाओं में उपलब्ध है ।

'केसरी' का प्रकाशन लोकमान्य ने ईश्वर की उपासना समझकर ही किया । उनके संपादकीय लेख व टिप्पणियाँ इतनी पैनी होती थीं जो भारतीयों के अंतर में छिपी विवशता व नैराश्य को हटाकर आशा व कर्मन्यता का संचार करती थी । अंग्रेजों के मन में भय का संचार कती थी । एक समय की बात है वे 'केसरी' के लिए तैयारी कर रहे थे । उसी समय एक तार आया उन्होंने उसे अंदर भिजवा दिया । तार पढ़कर घर में कुहराम चल गया । उसमें इनके पुत्र की मृत्यु की सूचना थी । वे तनिक भी विचलित न हुए और उसका अंतिम संस्कार करने के उपरांत उसी प्रकार संपादन में व्यस्त हो गए । मित्रों में इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया-"जब इस दिल में एक ही दर्द है वह देश का है । अब अन्य के लिए स्थान नहीं बचा ।"

ऐसे कर्मयोगी जीवन में कुछ कर सकते हैं । यह पीड़ा जितनी अधिक जिसके हृदय में समाई होगी उसके संकल्प उतने ही दृढ़ होंगे तथा उसके कार्य भी उतने ही प्रभावशाली होंगे । आधे-अधूरे मन से किए गए कार्य न तो प्रभावशाली होते हैं न कारगर ही ।

जेल से छूटकर आने पर तिलक का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था उसकी चिंता न करते हुए भी आत्मिक बल के सहारे अपने कर्तव्य को करने में लग गए। अपने समय के सबसे प्रिय नेता होने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ। जहाँ भी गए भव्य स्वागत हुआ तथा राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग करने की लहर उस क्षेत्र में दौड़ गई।

लोकमान्य के निर्माण में उनकी आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा का प्रमुख हाथ रहा। आत्म तत्व को जानने के कारण तिलक इतना त्याग सहज ही कर पाये थे। इनके कार्यों में प्रखरता तथा स्वभाव में निर्भीकता और प्रभावशाली व्यक्तित्व अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर ही उगा पनपा व बढ़ा था। जबकि अन्य नेता इतना साहस नहीं कर पाए थे। बाल गंगाधर तिलक ने सिंह की तरह दहाड़ कर कहा था-"स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" उन्हें इतना साहस प्रदान करने वाली शक्ति और कुछ नहीं धर्म तथा अध्यात्म था। लोकमान्य की वह वाणी एक दिन सत्य होकर ही रही।

वे सच्चे अर्थों में महामानव थे। परदुःख कातरता के कारण ही वे इतने महान बने थे। एक बार 'केसरी' में एक लेख आपत्तिजनक समझा गया। उसे अंग्रेजों ने 'राष्ट्र विरोधी' बताकर मुकदमा चलाया। वह इनके सहयोगी ने लिखा था। उन्होंने स्वयं का लिखा हुआ मानकर सहर्ष छः वर्ष का कठोर कारावास स्वीकार किया। वे जानते थे कि यदि इस प्रकार के काम करने वाले सहयोगी नहीं होंगे तो उनका आंदोलन चलाएगा कौन ? परिवार के मुखिया की तरह उन्होंने अपना कर्तव्य निभाया।

सामाजिक क्षेत्र में भी वे इतने उदार थे कि मुसलमान अछूत आदि किसी से भी भेदभाव नहीं बरतते थे। वे परम्पराओं को विवेक की कसौटी पर कसकर ही मानते थे। उन्होंने धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी उन तात्कालिक कुरीतियों का विरोध किया जो समाज की एकता तथा राष्ट्र हित में बाधक थी।

लोकमान्य के इस महान् व्यक्तित्व को देखकर उन्हें लोग 'भगवान' शब्द से सम्बोधित करने लगे थे।

वे जब भी कुछ बोलते-लिखते थे वह इतना मार्मिक तथा सूरज के उजाले की तरह स्पष्ट और सत्य होता था कि उसे विरोधी भी मानने को विवश हो जाते थे। उनकी वाणी उनकी आत्मा की आवाज थी। उसमें सदा अमरता गूँजती थी। उन

पर चलाये मुकदमे के निर्णय के विरोध में उन्होंने कहा था-"जूरी के निर्णय के बावजूद मुझे यही कहना है कि मैं निरपराध हूँ । मनुष्य के ऊपर भी एक शक्ति है, जिसके इशारे पर मनुष्य और यह संसार चलता है, लगता है विधाता की यही इच्छा है कि जिस कार्य को मैं करना चाहता हूँ वह मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरी पीड़ा से ही पूर्ण हो ।" उन्होंने अपने इस कारावास को निरर्थक नहीं माना था ।

शरीर जब आत्मा का साथ नहीं दे पाता तो उसे बदलने की व्यवस्था करने वाला करता है । जुलाई १९२० के अंतिम सप्ताह में इस महामानव का देहावसान हुआ । इस पर सारा देश शोकाकुल हो उठा ।

लोकमान्य का कर्तृत्व समय की माँग पूरा करने में ही नियोजित रहा । उन्होंने विश्व और राष्ट्र से पृथक अपनी कोई सत्ता नहीं समझी । उस महामानव के बहुत से काम आज भी युग की अनिवार्यता के रूप में अधूरे पड़े हैं । उसे पूरा करने में हमारे लिए उनका जीवन एक प्रेरणा, एक प्रकाश, एक पीड़ा देता रहेगा, इसे जो अंगीकार कर सकेगा उसका मनुष्य जन्म सार्थक हो जायगा ।

वीर सावरकर

बाँध न पायी, जिन्हें जेल की दीवारें भी

साम्राज्यवादी अंग्रेजों के घर इंग्लैंड की राजधानी में भारतीय युवकों को क्रांतिकारी गतिविधियों का सूत्र-संचालन करने और अंग्रेजों के नाको दम करने वाले साहसी युवक को अंग्रेजों के भारतीय न्यायालय ने आजन्म काले पानी की सजा दी । इस पर लोगों ने कहा-"पचास वर्ष की सजा बहुत अधिक होती है ।"

"पचास वर्ष की बात करते हो ? क्या इतने दिनों ये अंग्रेज यहाँ रहने वाले हैं ? कभी नहीं ।"

यही दृढ़मना युवक मार्च १८९९ में अंडमान द्वीप समूह में काले पानी की सजा काटने के लिए भेज दिया गया । लंबी जेल यात्रा के बाद वह अंडमान पहुँचा तब तक तो उसने तय कर लिया था कि उसे वहाँ जाकर क्या करना है । जहाज

चलने के साथ ही उसका मस्तिष्क भी चलता रहता था । उसकी अपनी सारी योजना और सम्भावित गतिरोध और उनसे निपटने के सारे तरीके उसके उर्वर मस्तिष्क में उपज आए थे ।

उसके चिंतनशील मस्तिष्क में यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी कि अब अंग्रेज अधिक दिनों भारत पर शासन नहीं कर पायेंगे क्योंकि भारतवासी उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं । किन्तु उनके जाने के बाद जो ऐक्य उनके विरोध करते समय बना था वह बना रहना संभव नहीं है । क्योंकि भारत जैसे विशाल देश के निवासी धर्म, नीति, रिवाजों तथा भाषागत विभिन्नता के कारण एक होकर सोच नहीं पायेंगे । जातिवाद, भाषावाद व सम्प्रदायवाद के काले नाग फन उठाने लगेंगे । ऐसी स्थिति में राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए, भावनात्मक एक्य के लिए देश भर में एक राष्ट्र भाषा का होना आवश्यक है । और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अत: उसने जेल में ही हिन्दी का प्रचार करने का निश्चय कर लिया । इस निश्चय को उसने अनेकानेक कठिनाइयों, असुविधाओं, विरोधों के अनंतर भी पूरा कर दिखाया । यह युवक थे भारत के प्रसिद्ध क्रांतिकारी विनायक दामोदर सावरकर जिन्होंने दस वर्ष तक अंडमान जेल में रहकर वहाँ के ९० प्रतिशत बंदियों को हिन्दी सिखायी ।

अंग्रेजों ने अपने शासन के साथ ही साथ उनकी भाषा और संस्कृति भी भारतवासियों पर थोपी थी । अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी वेशभूषा के बौद्धिक परावलंबन का जुआ उन्होंने भारतवासियों के कंधों पर रख दिया था । यह मानसिक दासता उस राजनैतिक दासता से कम भयंकर नहीं थी । इससे उसी समय सावरकर ने जूझना आरम्भ कर दिया था अंडमान की जेल में जाते ही ।

उन्होंने अंडमान जेल स्थित बंदियों को साक्षर बनाने व अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का कार्य आरंभ कर दिया । बंदी जीवन की कष्ट- कठिनाइयों व अत्याचारों ने लोगों को इतना निराश-हताश बना दिया था कि उन्हें पढ़ने के लिए तैयार करने में भी सावरकर को बड़े धैर्य का परिचय देना पड़ा । कोई कहता- "भैया ! जाने कब यहाँ से मुक्ति मिलेगी तब तक तो हम मर खप ही जायेंगे ।" कोई कहता-"अब तक तो पंजाबी बोलता रहा हूँ अब हिन्दी पढ़कर क्या तीर मार लूँगा ।" कोई बुढ़ापे का रोना रोते-"पक्की हंड़ियों पर क्या कच्ची मिट्टी का पेबंद

लगता है बेटे ।" इन सबके मन में उन्होंने अपनी युक्तियों व अपने आशावाद के कारण उत्साह उत्पन्न किया । वे लोग भी देखते कि यह तीस वर्ष का युवक यहाँ पचास वर्ष की जेल भोगने आया है । यहाँ से जायगा तब तक तो अस्सी का हो जाएगा फिर भी यह हँसता-मुस्कराता है और कहता है कि इतने वर्ष तक अंग्रेज भारत में रहेंगे भी नहीं । और फिर हमें साक्षर बनाने के लिए कितना परिश्रम करता है । इसने जीवन के मर्म को समझा है हमें उसकी बात माननी चाहिए ।

सावरकर की कर्मनिष्ठा और उत्साह ने मरे हुए दिलों में आशा की संजीवनी की घुट्टी पिलाकर प्राण संचार किये और उनका शिक्षण तेजी से चलने लगा । अनपढ़ पढ़ने लगे । अहिन्दी भाषी हिन्दी सीखने लगे ।

उनकी इस सफलता पर जेल के अंग्रेज अधिकारी क्षुब्ध हो उठे । उन्होंने देखा कि यदि लोगों में उत्साह उत्पन्न हो गया और हिन्दी सीखकर वे हिन्दुस्तानी बन गए तो उनके बीच पड़ी हुई पंजाबी, गुजराती, मराठी, दक्षिण भारतीय की अदृश्य दीवारें उठ गयीं तो हमारी मुश्किल हो जायगी । भारत रूपी यह दैत्य जो अभी सोया हुआ है जाग पड़ेगा तो जाने क्या हो जायगा । अत: उन्होंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अनुसार काम करना आरंभ कर दिया ।

थोड़े ही समय में सावरकर से पढ़ने वालों ने पढ़ने से इन्कार कर दिया । सब लोग उनसे कतराने लगे । इसका कारण अधिकारियों द्वारा फैलाई गयी यह अफवाह थी वे बंगाली, सिंधी, पंजाबी, मराठी आदि भाषा-भाषियों पर हिन्दी, जो कि थोड़े से लोगों की भाषा है, लादने का कुचक्र रच रहे हैं । इस पर बड़ा बखेड़ा उत्पन्न हो गया । कुछ लोग तो इनका प्रबल विरोध करने लगे । वे हिन्दी को समस्त भाषाओं से श्रेष्ठ कैसे मान लें । बंगाली कहते-"हमारी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध है कि हिन्दी में उनके अनुवाद होते हैं फिर उसे ही क्यों प्रमुख मान लिया जाय ।" इतने में मराठी बोल पड़ता-"मराठी क्या किसी से कम है ।" कोई कहता-"हिन्दी का तो अपना व्याकरण भी नहीं ।" इस प्रकार तरह-तरह के विरोध उठ खड़े हुए ।

इस विरोध का उत्तर एक-एक व्यक्ति को पृथक-पृथक देने की अपेक्षा उन्होंने सब बंदियों की एक सामूहिक सभा बुलाकर उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया । पृथक-पृथक समझाने में कितना ही समय लग जाता और अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न हो जाता । उन्होंने सब भाषाओं को अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त

मानते हुए हिन्दी को सबके बीच की सम्पर्क भाषा मान लेने के औचित्य को समझाया। साथ ही साथ उन्होंने इसकी व्यावहारिकता पर भी प्रकाश डालते हुए बताया कि हमारा देश भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों व भाषाओं वाले लोगों का होते हुए भी धर्म और संस्कृति के सूत्रों में बँधकर एक बना है, वैसे ही हिन्दी को भी एकता का एक सूत्र मान लेना चाहिए।

उनकी युक्ति युक्त बात लोगों के गले उतर गयी। वे हिन्दी पढ़ने के लिए तैयार हो गए। हाँ कुछ कठोर चनों की तरह गले नहीं, विरोध करते रहे किन्तु उनकी आवाज अब नक्कारखाने में तूती की तरह अप्रभावी बन गयी थी। सावरकर का प्रयास सफल होता दिखाई देने लगा।

अब समस्या आयी पुस्तकों की। जेल के कुछ सहृदय भारतीय अधिकारियों के सहयोग से कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुईं। उनसे ज्ञान मंदिर (पुस्तकालय) की स्थापना की गयी। किन्तु पढ़ने वालों की संख्या देखते हुए पुस्तकें बहुत कम थीं। उसका तरीका खोजा गया कि बंदी पैसा-पैसा इकट्ठा करें और अवसर देखकर बाहर से पुस्तकें मँगा लें। इन्हीं दिनों दीवान सिंह नामक एक व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। पुस्तकें मँगाने का अच्छा बहाना था। कैदियों ने जो पैसा-पैसा जोड़ा था वह इकट्ठा किया गया। कोई दो सौ रुपये एकत्रित हुए। उन रुपयों से दिवंगत बंदी की स्मृति में पुस्तकें मँगायीं। सामान्य व्यक्ति के स्तर से लेकर उच्च साहित्यिक पुस्तकें भी मँगायी गयीं जिससे सभी स्तर के लोग लाभ उठा सकें।

अब हिन्दी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का शिक्षण भी आरंभ किया गया। सम्पर्क भाषा बनी हिन्दी। तब लोगों की समझ में आ गया कि इसे सीखने से कितना लाभ हुआ। हिन्दी सीखने से परस्पर एक दूसरे की भाषा समझने-सीखने में बड़ी आसानी हो गयी।

जेल से जिन व्यापारियों का सम्पर्क रहा करता था, उन्हें भी सावरकर ने कहा-"हिन्दी सीखने का प्रयास करो, अपने बच्चों को हिन्दी सिखाओ ताकि सरकार उनके लिए पाठशाला खोल सके। हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली होते हुए भी जैसे हम हिन्दू हैं। वैसे ही धर्म की तरह भाषा को भी हमें सीखना चाहिए।"

सावरकर को जेल में कोठाधिकारी बनाया गया। उन दिनों तेल व खली

खरीदने के लिए जो व्यापारी आते उन्हें वे अपनी यह बात समझाना नहीं भूलते। यही नहीं उन्हें महाभारत, रामायण तथा अन्य महापुरुषों की जीवनियाँ भी पढ़ने के लिए देने लगे जिन्हें पढ़कर वे लोग वापस उन्हें लौटा देते थे। इस प्रकार जेल की चहार-दीवारी में लगाये गये ज्ञान रूपी वृक्ष के जब फूल आये तो उनकी सौरभ उन सीखचों से बाहर भी विचरने लगी।

किसी को बंदी बना देने से उसके क्रिया-कलाप रुकते नहीं। जिनमें कुछ कर गुजरने की भावना होती है, वे तो पर्वतों को तोड़कर भी राहें बना लेते हैं। बस लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है। अंग्रेजों ने देखा कि यह सावरकर यदि खुला फिरता रहा तो जाने क्या क्या बखेड़े उत्पन्न करेगा इसलिए न्याय का गला घोंटकर उन्हें सुदूर काले पानी की सजा काटने भेज दिया पर वहाँ भी वे चुप नहीं बैठे।

उन्होंने भारतवर्ष के क्रांतिकारियों से भी सम्पर्क बनाये रखा। उनके इस जेल में चलाये गये साक्षरता आन्दोलन को इन क्रांतिकारियों की सहायता मिलती रही थी। इस कार्य से दोहरा लाभ हुआ एक तो निरक्षर लोग साक्षर हो गए। उनके लिए ज्ञान प्राप्ति का मंगल द्वार खुल गया दूसरे राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार हो गया।

जेल में उन्हें भी अन्य बंदियों की तरह कोल्हू चलाना पड़ता था, चक्की पीसनी पड़ती थी। भोजन ढंग का नहीं मिलता था। जलवायु तो पहले ही खराब था ही। मलेरिया का भीषण प्रकोप होता था। इन सब बाधाओं को झेलते हुए भी उन्होंने अपने संकल्पों को साकार करने में कभी आलस्य नहीं किया। उन्हें जब भी समय मिलता अपना पढ़ाने का काम पकड़ लेते।

दस वर्ष तक वे इन काल कोठरियों में पाठशाला चलाते रहे। अपने ढंग की अनौखी पाठशाला जिसके लिए न समय था, न साधन और ऊपर से अंकुश लगा ही रहता था। फिर भी दस वर्ष तक वे वहाँ रहे तो उन्होंने ९० प्रतिशत बंदियों को साक्षर बना दिया। लोग कहते हैं, क्या करें परमार्थ का काम करते पर इतने व्यवधान सामने हैं उनके लिए यह उदाहरण अपर्याप्त नहीं। संकल्पों की कमी है और किसी की नहीं अन्यथा परमार्थ के काम में न समय बाधक बनता है, न साधनों का अभाव ही।

विश्व वंद्य महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी के पिता करमचंद गाँधी राजकोट रियासत के बड़े दीवान थे । उनके परिवार का जीवन राजसी ठाठ-वाट से चलता था । सबको आशा थी कि मोहनदास गाँधी भी पढ़-लिखकर किसी ऊँचे ओहदे पर पहुँच जायेंगे । लेकिन मोहनदास गाँधी ने अपनी योग्यताएँ, साधन, क्षमताएँ और यहाँ तक कि अपना सारा जीवन अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने और जनता के हित में लगा दिया ।

वैरिस्ट्री पास करने के बाद गाँधी जी एक प्रसंग के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये । वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि प्रवासी भारतीयों पर बड़ा अमानुषिक अत्याचार किया जाता है । उन्हें मनुष्य के साधारण अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है । वहाँ के गोरे अधिकारी उनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार करते हैं । निवास, रोजगार आदि की कोई भी सुविधा उन्हें नहीं है । गरीबी, अशिक्षा और दासता की दशा में वे लोग पशुओं जैसा जीवन जी रहे हैं ।

गाँधी जी ने मनुष्यता की वह दयनीय दशा देखी तो अपना स्वार्थ भूल गए और दुखियों का दु:ख दूर करने में लग गए । उन्होंने वकालत का पेशा छोड़ दिया, सुविधापूर्ण रहन-सहन का त्याग कर दिया और फकीरी लेकर सारा जीवन जन-सेवा में समर्पित कर दिया ।

महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका के अन्याय ग्रस्त लोगों में आत्म-बोध और स्वाभिमान का भाव जगाने के लिए अनेक संगठन बनाये, सभायें एवं समितियाँ स्थापित कीं । बच्चों के लिए शिक्षा संस्थायें बनाईं । भाषणों, सम्पर्कों और लेखों द्वारा उन्होंने मृत मनुष्यों में जीवन का संचार किया । प्रवासी भारतीयों के लिए नागरिक अधिकार सुरक्षित कराने के लिए उन्होंने अपनी कानूनी योग्यता का उपयोग किया । वे लोगों के आवेदन पत्र मुफ्त लिखते थे और मुकदमों में नि:शुल्क पैरवी करते थे । उन्होंने जन-जागरण के लिए वहाँ पर कई समाचार-पत्र भी निकाले । इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अन्याय के विरुद्ध एक बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया जिसके फलस्वरूप वहाँ की गोरी सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा ।

अपने इन लोक-हितकारी कामों के लिए महात्मा गाँधी को अपार कष्ट सहने पड़े । उन्हें अनेक बार अपदस्थ किया गया । उद्धत गोरों ने उन्हें बहुत बार मारा-

पीटा भी । उनकी सभाओं में उपद्रव किये गये, जहाजों और रेलगाड़ियों से उन्हें धक्का देकर बाहर किया गया । उन पर सड़े अंडे, जूते और यहाँ तक कि विष्टा तक फेंकी गई । लेकिन महात्मा गाँधी निरंतर साहस एवं धैर्यपूर्वक अपने सत्कर्मों में लगे रहे । सरकार ने अत्याचार करने वालों पर मुकदमा चलाने को कहा तो सहनशील महात्मा गाँधी ने उन्हें क्षमा कर दिया । इस प्रकार जो गाँधी जी पढ़-लिखकर वैरिस्ट्री पास कर वकील बनने और जीवन में बड़े आदमी बनने के लिए उद्यत हो रहे थे वे मनुष्यता का दु:ख देखकर बिल्कुल बदल गए । उन्होंने संसार के सारे सुख छोड़कर मनुष्यता के कल्याण के लिए संन्यास ले लिया ।

दक्षिण अफ्रीका से वापस आकर महात्मा गाँधी ने देश की जो सेवा की वह इतिहास प्रसिद्ध है । उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन, असहयोग, नमक सत्याग्रह, स्वदेशी आंदोलन आदि चलाकर देश को स्वाधीनता की दिशा में बढ़ाया और अंत में भारत छोड़ो आंदोलन चलाकर विदेशियों को देश से निकाल कर स्वतंत्रता की उपलब्धि कर ही ली । इस सबके लिए गांधी जी ने अनेक बार जेल यात्रायें कीं, अत्याचार सहे, उपवास और अनशन किये । उन्होंने सदा सत्य का सहारा लिया । अहिंसा उनका मूल मंत्र था । विश्व प्रेम और मानवता के प्रबल समर्थक थे । आत्म-संयम और आत्म-शुद्धि उनका जीवन मंत्र था । अपने इन्हीं गुणों और कार्यों के फलस्वरूप वे सामान्य मनुष्य से महात्मा बने ।

सेवा एवं मानवता की मूर्ति
महामना मालवीय जी

"जब तक मैं इस मकान में हूँ तब तक ये गरीब आदमी इसी प्रकार यहाँ आते रहेंगे । मुझे भारत ही नहीं संसार भर के गरीबों से सहानुभूति है । मुझे उनसे हार्दिक प्रेम है । अपने घर आने को मैं इनकी कृपा मानता हूँ । इनको घर बैठे देखने का अवसर पाकर मैं देश के विषय में बहुत-सी बातें समझ लेता हूँ ।"

ये शब्द थे महामना मदमोहन मालवीय जी के जो उन्होंने अपने पुत्र श्री गोविंद मालवीय की इस शिकायत पर कहे थे कि बैठक में ऐसे बहुत से आदमी

बिना पूछे चले आते हैं, जिनके पैर धूल से सने होते हैं और कपड़े निहायत गंदे रहते हैं । मुझे इनका आना बिल्कुल पसंद नहीं, मैं इनके आने पर प्रतिबंध लगा दूँगा ।

पं० मदमोहन मालवीय एक पूर्ण धार्मिक व्यक्ति थे किन्तु उनको धर्म-भावना में घृणा नहीं प्रेम की प्रधानता थी । उन्हें किसी से मिलने, बात करने में संकोच नहीं होता था ।

पं० मदमोहन मालवीय सनातन धर्म के साकार रूप थे । धर्म की अनुभूति उनके रोम-रोम में भरी हुई थी । उन्हें अपने महान् ब्राह्मणत्व पर स्वयं ही बहुत श्रद्धा थी । वे अपने ब्राह्मण संस्कारों को किसी भी स्थिति अथवा अवसर पर त्यागने को तैयार नहीं थे । धार्मिक नियमों की रक्षा और उनके पालन को वे जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य मानते थे ।

उनका कथन था-"धर्म वह शक्तिशाली तत्व है जिसको अपनाने से बड़े से बड़े पतित हृदय का अनुराग भी महामना बन सकता है । मुझे अपने धर्म पर अनंत श्रद्धा है । धर्म मेरा जीवन और प्राण है । मैं जीवन की सारी सुख-सुविधायें, यहाँ तक कि परिवार और प्रेमी-जनों तक को धर्म पर न्यौछावर कर सकता हूँ ।"

महामना मालवीय जी का यह कथन केवल कथन मात्र ही न था बल्कि उसका एक-एक शब्द उनके दैनिक जीवन में कदम-कदम पर परिलक्षित होता था । वे हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के पूर्ण उपासक थे और जीवन भर इन्हीं के लिए काम करते हुए, इन्हीं के लिए मर-मिटे ।

महामना मालवीय जी को अपने देश-भारत की दो कमियाँ बहुत खटकती थीं । एक अविद्या और दूसरी निर्धनता । वे बनारस के एक परम प्रतिष्ठित व्यक्ति और उस तीर्थ के सर्वमान्य नेता थे । जहाँ काशी की जनता उन्हें देवता के समान पूजती थी वहाँ काशी नरेश उन्हें गुरु के समान मानते थे ।

मालवीय जी का यह प्रभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे एक अद्वितीय ब्राह्मण थे बल्कि उनका सारा सम्मान उनकी उन समाज सेवाओं पर निर्भर था जो समय-समय पर वे करते रहते थे ।

पं० मदनमोहन मालवीय पोंगापंथी धार्मिक नहीं थे । उनके धर्म में सत्य और संयम का समन्वय रहता था । यद्यपि वे अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे और उसके लिए वे बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव तत्पर रहा करते थे तथापि जो

धार्मिक नियम रूढ़ि बनकर देश, जाति अथवा समाज को हानि पहुँचाने लगते थे उनका त्याग कर देने में उन्हें जरा भी संकोच न होता था । इसका प्रमाण उन्होंने अछूतों और दलित वर्ग के प्रति सेवा भावना से दिया ।

गरीबी और गरीबों के प्रति महामना मालवीय जी का प्रेम सर्वविदित था । किसी गरीब को देखकर तत्काल उनका हृदय करुणा से भर जाता था और वे उसकी यथासंभव सहायता किया करते थे । काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी महानतम संस्था के संस्थापक और उसके उपकुलपति होने पर भी वे अपने व्यक्तिगत जीवन में एक साधारण भारतीय नागरिक की तरह ही रहते थे । वे अपने जीवन पर एक सामान्य नागरिक की औसत आय से अधिक कभी खर्च नहीं करते थे और न कभी ऐसे बड़े प्रीति-भोजों में शामिल हाते थे, जिनमें ऐसी वस्तुएँ खाने के लिए बनी हों जो भारत के एक सामान्य नागरिक को आसानी से न मिल सकें ।

वे ऐसे अपव्ययी एवं बहुव्ययी प्रीतिभोजों का बहिष्कार ही नहीं बल्कि उनकी इन शब्दों में निंदा भी किया करते थे-"जहाँ तुम्हारे घर में हजारों-लाखों तुम्हारे भाई आधे पेट भोजन की पीड़ा सह रहे हों वहाँ इस प्रकार के विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े-बड़े प्रीतिभोज अशोभनीय ही नहीं बल्कि निंदास्पद भी हैं ।" इस प्रकार के अपव्ययी प्रीतिभोजों को चलाने और रहन-सहन पर बेहताशा खर्च करने वाले देश के गरीबों के प्रति सहानुभूति दिखला कर दुःख प्रकट करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे वे गरीब भारतीय जनता का उपहास करते हैं । जिसको कष्ट का एक काँटा नहीं चुभा, जिसने गरीबी के दर्द का कोई अनुभव नहीं किया वह गरीबों से सच्ची सहानुभूति किस प्रकार रख सकता है ? उनका दुःख दूर करने के लिए क्या कर सकता है ? गरीब जनता के नेताओं को अमीरों की जिन्दगी बिताने और विलासपूर्वक रहने का क्या अधिकार है ? मैं किसी अमीर क़ो गरीबों का नेता मानने को तैयार नहीं हूँ । गरीबों का नेता तो उन्हीं की तरह अभावों को अंगीकार करने वाला होना चाहिए ।

वे द्वार पर आए हुए गरीबों के प्रति नेताओं का विषमतापूर्ण व्यवहार पर आँसू बहाते हुए कहा करते थे-"यह कितनी बड़ी विडंबना है कि आज देश के नेता जनता से दूर सजे हुए बँगलों और वातानुकूल कोठियों में बैठकर उसकी गरीबी पर विचार-विमर्श करते हैं, सोफों पर पड़े-पड़े उसका उपाय सोचा करते हैं । अपने

चाँदी जैसे चमकते कपड़ों को गरीबों के स्पर्श से बचाते हैं और अपने कमरे में बिछी कालीनों को किसी आगंतुक गरीब के पैरों से मैला होने देने में संकोच करते हैं । यह कैसा नेतृत्व है, यह कैसी हिमायत है ? जिसने गरीबी का अभिशाप नहीं देखा उसकी आहों-कराहों को नहीं सुना वह भला गरीब जनता का नेतृत्व कैसे कर सकता है ? आज तो देश को ऐसे नेताओं, ऐसे सेवकों की आवश्यकता है जिनके हृदय देश के प्रति करुणा से भरे रहते, जिनके आँसू गरीबों की पद-धूलि के लिए सदैव आँखों से भरे रहते हों और जिनका हृदय स्वभावतः अमीरी और अरामपूर्ण जिन्दगी से घृणा रखता हो । मैं भगवान से नित्य यही प्रार्थना करता हूँ कि हे करुणाकर जगदीश ! तू मेरे हृदय में गरीबों के प्रति इतनी दया, इतना प्रेम भर कि मैं अपने अस्तित्व को उनकी सेवा में विसर्जित कर दूँ और देश को ऐसे नायक दे जो समाज की आवश्यकता, उसकी पीड़ा और परेशानी को ठीक-ठीक अनुभूत कर सके ।"

महामना का मानवतामय व्यक्तित्व धर्म की उदात्त पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था । यद्यपि नित्य-प्रति पूजा-पाठ करना मालवीय जी की दिनचर्या का एक विशेष अंग था । जब तक वे नियमित रूप से पूजा न कर लेते थे जीवन के नये दिन का कोई कार्य प्रारंभ न करते थे, किन्तु मानवता की सेवा करना वे व्यक्तिगत पूजा-उपासना से भी अधिक बड़ा धर्म समझते थे । इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया जबकि एक बार प्रयाग में प्लेग फैला । अभागे नर-नारी कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने लगे । मित्र-पड़ौसी, सगे-संबंधी तक एक-दूसरे को असहाय दशा में छोड़कर भागने लगे थे । किन्तु यह मानवता के सच्चे पुजारी श्री महामना ही थे जिन्होंने उस आपत्ति काल में अपने जीवन के सारे प्राणप्रिय कार्यक्रम एवं कर्मकांड छोड़कर तड़पती हुई मानवता की सेवा में अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया था । वे घर-घर, गली-गली पैदल दवाओं तथा स्वयंसेवकों को लिए हुए दिन-रात घूमते रहते थे और खोज-खोजकर रोगियों के घर जाते । उन्हें दवा देते, उनकी सेवा-सुश्रूषा करते, उनके मल-मूत्र साफ करते और अपने हाथों से उनके निवास स्थान तथा कपड़ों को धोते थे । अपने इस सेवा कार्य में वे नहाना-धोना, पूजा-पाठ तथा खाना-पीना सब कुछ भूल गये । कब दिन निकला ? कब रात हुई ? इसका पता ही न रहता था ।

उदारचेता मालवीय जी स्वयंसेवकों से ऊपर का काम तो ले लेते थे किन्तु रोग के प्रभाव के भय से उन्हें रोगियों के पास न आने देते थे। जब उनके भक्त-जन उनसे यह कहा करते थे कि आप दूसरों को रोगियों के पास रोग के संक्रमण के भय से तो जाने नहीं देते किन्तु स्वयं उनका मल-मूत्र तक साफ करते हैं। आप देश, जाति की अमूल्य निधि हैं, क्या आपको रोग की शंका नहीं होती ? तब उनका यही उत्तर होता था कि एक तो मैं अपने सेवा कार्यों में किसी का साझा नहीं करना चाहता, दूसरे मेरे हृदय में इस त्रस्त मानवता के लिए इतनी तीव्र आग जल रही है कि मेरे पास रोग के कीटाणु आकर स्वयं भस्म हो जायेंगे। और यदि इनकी सेवा करता-करता मैं स्वयं मर जाऊँ भी तो अपने मानव जीवन को धन्य समझूँगा।

यह थी महामना मालवीय जी की सेवा-भावना जिसके लिए वे अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर करते रहते थे। उनके धर्म का ध्येय मोक्ष अथवा निर्वाण न होकर मानवता की सेवा मात्र था। जिसको वे जीवन भर सच्चाई के साथ निभारते हुए एक दिन उसी मार्ग पर चलते-चलते परम तत्व में विलीन हो गए।

कहना न होगा कि धर्म के अभाव में कोई मनुष्य सच्चा मनुष्य नहीं बन सकता और बिना सेवा-भाव के धर्म का कोई महत्व नहीं।

"सपने न देखो, काम करो" का सूक्तिकार
लौहपुरुष पटेल

एक लड़के की काँख में भयंकर फोड़ा हो गया था। गर्म सलाखों से उसका आपरेशन किया जाना था। लोहे के दो सूजे इतने गर्म किये गये कि वह लाल रक्त वर्ण हो गये। सब सामान ठीक हो गया, पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि उस सुकुमार बालक के कोमल शरीर पर यह कठिन प्रयोग करे।

लड़के ने सबकी ओर देखा और कहने लगा-"अरे ! तुम सब लोग कैसे हो जो इस तरह घबड़ा रहे हो। यह काम तुम्हें कठिन दिखाई देता है तो हटो, सलाखें मुझे दे दो, अपना आपरेशन आप किये लेता हूँ।" यह कहकर उसने सलाखें उठाई

और फोड़े में घुसेड़ दीं । देखने वाले घबड़ा उठे, किन्तु उस साहसी बालक ने फोड़े को जला कर पानी-पानी कर दिया । उसने कहा जो काम करना उचित हो उसके परिणाम के लिए घबड़ाया नहीं जाता । घबराने वाले अपने लिए भी अहितकारी ही सिद्ध होते हैं ।''

पाकिस्तान के जन्मदाता जिन्ना का षड़यंत्र चल रहा था कि जोधपुर, उदयपुर, इन्दौर और भोपाल आदि रियासतों को पाकिस्तान में मिलाकर उसकी सीमायें भारत के भीतर तक घुसा दी जायें । कई रियासतों के नवाबों को बुलाकर जिन्ना साहब समझौता का प्रयास कर रहे थे और पाकिस्तान को विशाल साम्राज्य बनाने का स्वप्न देख रहे थे । जब उनके इस षड़यंत्र का पता चला तो भारतीय नेताओं में जो राष्ट्रवादी थे उनकी विचार-गोष्ठियों में निश्चय किया गया । बहुत संभव था कि विचार-विमर्श महीनों चलता और कोई निर्णय न हो पाता ।

पर उन व्यक्तियों में एक व्यक्ति ऐसा भी था जिसने कहा-''तथ्यों को सिद्ध करने के विचार करना उतना ही आवश्यक है जितना समय हो, इसके बाद तो उसे क्रियान्वित ही कर देना चाहिए । अच्छे काम में देर न करना ही सफलता का प्रतीक है । योजनाओं में पड़े रहने से तो बड़े-बड़े कार्य भी रुके रहते हैं, जो करना है उसके लिए फिर देर न करनी चाहिए ।''

उसने उपरोक्त शब्द कहे ही नहीं वरन् गृहमंत्री की हैसियत से उन तमाम रियासतों का एकीकरण कर दिखाया जो पाकिस्तान में मिलकर अथवा स्वतंत्र रहकर भारतीय लोकतंत्र के लिए मात्र सिर दर्द सिद्ध होतीं । हैदराबाद निजाम और रजाकारों को भारत-विलय के लिए राजी करने में उसने लौह पुरुष की भूमिका निभायी । सब जानते हैं वह कर्मठ, कर्मवादी, भीमकर्मा नेता और कोई नहीं स्वर्गीय सरदार बल्लभ भाई पटेल थे ।

सरदार बल्लभ भाई पटेल ने यह महान् गुण नैपोलियन बोनापार्ट से सीखा था । वे नैपोलियन की इस उक्ति में विश्वास रखते थे कि आलोचकों की परवाह न करो, कार्यों से उनका उत्तर दो, तुम्हारे लिए यह आवश्यक नहीं कि उनके साथ वाक्-युद्धों में अपनी शक्ति घटाओ और समय बर्बाद करो ।''

पूर्व पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने में उन्हें जो भी विशेषतायें दिखाई देती थीं सरदार पटेल ने सदैव उनका अपने व्यावहारिक जीवन में प्रयोग किया । सरदार

शक्ति पूजक थे । उनका विश्वास था कि सुनियोजित शक्ति का साहसिक उपयोग ही अंत में सफलता की ओर ले जाता है ।

इस महामंत्र का आश्रय लेकर ही उन्होंने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी अपने सिर ले ली और हैदराबाद जैसी न झुकने वाली रियासत को 'सर' कर दिया । केवल योजनायें बनती रहतीं तो संभवतः काश्मीर, रन-कच्छ, अकसाइचिन की तरह इन देशी रियासतों का भाग्य भी अभी तक अधर में पड़ा हुआ होता ।

सरदार पटेल अपनी धुन के पक्के थे । खरी बात कहने और काम करने में उन्होंने कभी भी व्यक्ति का दवाब नहीं माना । दूसरे की वही बात मानते थे जो उपयुक्त, बुद्धि और न्यायसंगत होती थी । राष्ट्रपति के चुनाव में जब कांग्रेस की कार्यकारिणी में मतभेद उत्पन्न हुआ तो उसमें स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल जी तक इस पक्ष में थे कि राजगोपालाचारी को राष्ट्रपति बनाया जाये, किन्तु वरीयता, योग्यता, सूझ-समझ की दृष्टि से डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का नाम बहुमत से लिया जा रहा था । इतना होते हुए भी जवाहरलाल नेहरू का प्रतिवाद करने की किसी में हिम्मत न हुई । वह पटेल ही थे जिन्होंने जवाहरलाल से न केवल स्पष्ट असहमति ही व्यक्त की वरन् राजेन्द्र बाबू को राष्ट्रपति बनाने में वह सफल भी हुए ।

सरदार पटेल में यह गुण हठवादिता का प्रतीक न था वरन् वे प्रत्येक विषय पर समय और समाज की नीतियों के अनुरूप निर्णय लेते थे । जिस बात को वह जनता और राष्ट्र के हित के पक्ष में अनुभव करते थे उसे पूरा करने में उन्होंने कभी आलोचनाओं की परवाह नहीं की और न ही किसी शक्ति से डरे । यही कारण था कि वह अपने कार्यकाल में जितना कुछ कर सके वह अब तक स्थिर और सफल है ।

शीघ्र निष्कर्ष लेना उनकी निपुणता थी । सरदार बल्लभ भाई पटेल अन्य नेताओं से अलग श्रेणी के और एक स्वतंत्र व्यक्तित्व दिखाई देते हैं । इनमें कोई वैयक्तिक अहंकार न था वरन् उनका स्वतंत्र चिंतन था जिसका स्वरूप भारतीय आदर्शों और निष्ठाओं के अनुरूप था, यही कारण था कि उनकी प्रत्येक बात पर जनता का निर्विरोध समर्थन मिलता था । लोग अनुभव करते थे कि सरदार पटेल जो कुछ कहते हैं वह दरअसल महत्वपूर्ण आत्मा की आवाज होती है, वह जो कुछ करते हैं वह राष्ट्रीय कर्तृत्व के अनुरूप होता है । अन्य नेताओं में पाश्चात्य विचारों

और योजनाओं का आश्रय लेकर चलने की प्रवृत्ति है यही उनकी राष्ट्रीय नीतियों की असफलता का कारण है । सरदार पटेल उससे मुक्त थे । सामाजिक हो या राजनैतिक परिवर्तन, पटेल इस पक्ष में थे कि हमें अपनी आदर्श परम्पराओं और सामाजिक विचारधाराओं के साथ यदि पक्षपात न हो तो विरोध भी न हो ।

कई व्यक्तियों को यह शिकायत रहती थी कि सरदार पटेल की नीतियाँ कांग्रेसी विचारधारा से भिन्न और जातिवादी होती हैं । हम नहीं समझते यह कहाँ तक सच है । संभव है जिन्ना जैसे मुस्लिम पंथी नेताओं की प्रतिक्रियाओं का प्रभाव उन पर पड़ा हो । किन्तु यह बात महात्मा गाँधी जी भी मानते थे कि सरदार पटेल में सामाजिक कार्यकर्ता के उपयुक्त सभी गुण हैं । वह जहाँ कहीं भी जाते हैं वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन और विवेचन दूरदर्शितापूर्वक करते हैं । जो बात संभव न हो वह नहीं करते और जो करना है सरदार उसे असंभव नहीं मानते । कठिन हो तो भी उस पर जुट जाने का साहसिक गुण उन्हें सफलता की सीढ़ी तक पहुँचा देता है ।

महात्मा गाँधी का कथन बारदौली सत्याग्रह के समय सत्य सिद्ध हुआ । इस आंदोलन का मुख्य नेता-पद पटेल को ही दिया गया । उन्होंने किसानों को लगान न देने का जोश दिलाया ताकि ब्रिटिश सामंतशाही का आर्थिक-चक्र टूट जाये । सरदार इस बात को जानते थे कि अंग्रेज शक्ति-प्रदर्शन करेंगे । उस शक्ति का अनुमान कर उन्होंने सुरसा के आगे हनुमान का सा बदन-विस्तार किया । सज्जन को सज्जनता से मिले और दुष्ट को शक्ति से-का गुरुमंत्र उन्होंने यहाँ भी नहीं भुलाया । उन्होंने ८० हजार ग्रामीण किसान और मजदूर भाइयों को एक अपराजेय किले की भाँति खड़ा कर दिया । सब बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थे । यह दुनियाँ की सबसे जबर्दस्त हिंसा से अहिंसा की टक्कर थी और उसमें विजय पटेल की ही रही । इस प्रकार उन्होंने यह भी अनुभव करा दिया कि संगठित होकर ही बड़े कार्य सम्पन्न हो सकते हैं । हमारा आंदोलन चाहे कैसा भी क्यों न हो उसमें छोटे से छोटा वर्ग भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना नेता और मार्गदर्शक का । दोनों में अभिन्नता जब तक नहीं आती, अगुआकार जब तक अपने आपको उन्हीं में से एक नहीं मानता तब तक न वह अपनी बात समझा सकता है और न मनवा सकता है ।

इतिहासवेत्ता पटेल ने अनुभव किया था कि जब हमारी शक्ति घटी, क्रियाशक्ति कमजोर हुई, संगठन टूटा, तेजस्विता गई तभी विदेशी चढ़ दौड़े । वह पुनरावृत्ति दुवारा न हो । उनकी दी आजादी को स्थायित्व तभी प्रदान किया जा सकता है जब देश का बच्चा-बच्चा ज्ञान, शक्ति और साधनों की प्रखर तेजस्विता लिए हुए हो । उसका मूल मंत्र हमें पटेल से लेना चाहिए-"निर्माण का स्वप्न न देखो काम करो और सफल कर दिखाओ ।"

देशरत्न
डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

उस समय कलकत्ता विश्वविद्यलाय का क्षेत्र बहुत विस्तृत था । समस्त बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा और बर्मा उसके अंतर्गत थे । इतने विस्तारपूर्ण विश्वविद्यालय की परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होना एक सराहनीय बात थी । देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद इसी विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद बाल्यकाल से ही बड़े परिश्रमी तथा अध्यवसायी थे । उनका विश्वास था कि पढ़ाई से लेकर व्यवसाय तक का जो भी काम किया जाए, उसे पूरे तन, मन से डूबकर सुंदरतम रूप में ही किया जाए । यों तो संसार में सभी को काम करना पड़ता है, किनतु काम किया जाना उसी को कहा जाएगा जिसे देखकर दूसरे लोग 'वाह' कह उठें और वह काम कर्तृत्व कला का एक अनुकरणीय उदाहरण बन जाए ।

अपने इन्हीं विचारों के बीच डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने सोचा कि विश्वविद्यालय के अधीन हजारों-लाखों विद्यार्थी पढ़ते हैं और इसी संख्या में वे परीक्षाओं में बैठेंगे और उन्हीं के बीच कोई न कोई छात्र अवश्य ऐसा होगा जो सर्वप्रथम आने का श्रेय प्राप्त करेगा । मेरी तरह ही वह भी दो हाथ-पैरों और विद्या-बुद्धि वाला एक साधारण मनुष्य ही होगा, तब फिर क्या कारण है कि जब कोई दूसरा सर्वप्रथम आ सकता है तब मैं क्यों नहीं आ सकता ? और उन्होंने सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने के लिए ईमानदारी

से पूर्ण प्रयत्न करने का संकल्प कर लिया, जिसके फलस्वरूप उनमें आत्मविश्वास के साथ परिश्रमशीलता की बाढ़ आ गई । वे उत्साहपूर्वक अध्ययन में लग गए और अपने संकल्प को पूरा कर दिखाया ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की इस संकल्पित सफलता ने उन्हें एक स्थायी अध्यवसाय एवं आत्मविश्वास से परिपूर्ण कर दिया जो कि जीवन भर उनके काम आता रहा ।

'अ' कक्षा से लेकर बी० ए० की परीक्षा तक वे एक ही नित्य नवीन लगन से पढ़ते रहे, जिससे प्रथम श्रेणी के साथ-साथ लोक-प्रियता भी प्राप्त करते रहे ।

योग्यता के साथ डॉ० राजेन्द्र प्रसाद में लोक-सेवा और जनहित के कार्यों में भी रुचि बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप बंग-भंग के अवसर पर उन्होंने सरकारी ऐलान के विरुद्ध जन-जागरण का कार्य प्रारंभ किया और बंगाल की एकता एवं अखंडता के पुण्य-प्रसाद में अपना भाग भी सुरक्षित कर लिया । बंग-भंग आंदोलन के समय वे एफ० ए० में पढ़ते थे । उस समय जब उन्होंने विदेशी बहिष्कार का कार्य प्रारंभ किया, तब अनेक अंग्रेज भक्तों ने उन्हें यह कह कर हतोत्साह करना चाहा कि तुम होनहार विद्यार्थी हो यह स्वदेशी-विदेशी का झगड़ा छोड़कर पढ़ो, लिखो और जिंदगी में तरक्की के द्वार खोलो ।

इस अदेशभक्ति पूर्ण प्रोत्साहन का एक ही उत्तर राजेन्द्र दिया करते थे कि जो स्वदेशी-विदेशी, खंडता-अखंडता, संगठन-विघटन, स्वाधीनता तथा पराधीनता का अंतर नहीं अनुभव कर सकता, वह मनुष्य और पशुता में भी अंतर नहीं कर सकता है ।

जिस प्रकार डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को संकुचित दृष्टिकोण से घृणा थी उसी प्रकार वे सामाजिक कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के विरोधी थे । वर्ष १९०५ में, जब विदेशी यात्रा, हिन्दू समाज में निषिद्ध मानी जाती थी, डॉ० गणेश प्रसाद नामक एक सज्जन विलायत से शिक्षा प्राप्त करके भारत वापस आये । बस पुरातनवादियों, रूढ़ि उपासकों तथा अंध-विश्वासियों ने विदेश से नवीन ज्ञान प्राप्त कर देश की सेवा करने का उद्देश्य रखने वाले तपस्वी का स्वागत करने के बजाय देश में आते ही विरोध करना प्रारंभ किया और अपने नियमानुसार उन्हें जाति से बहिष्कृत घोषित कर दिया । मूढ़ मतियों का यह व्यवहार डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा उनके बड़े

भाई श्री महेन्द्र प्रसाद को असह्य हुआ । वे गणेश प्रसाद बाबू के घर गए और उनके यहाँ भोजन करके विदेश यात्रा के इच्छुक व्यक्तियों को यह विश्वास दिला दिया कि विद्या एवं जीवन विकास के लिए विदेश जाने वालों को पुरातन पंथियों से रंचमात्र भी भय नहीं करना चाहिए, वे अकेले नहीं हैं, उठते भारत की पूरी नई पीढ़ी उनके साथ है ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा उनके भाई का यह साहस देखकर उनकी जाति के जड़ तंतुओं ने उन्हें भयभीत करके प्रगतिशीलता से विरत करने के लिए बहिष्कार के तीखे दाँत दिखलाये । किन्तु राजेन्द्र बाबू इस गीदड़ भभकी में न आये और अपने उन्नतिशील विचारों पर दृढ़ बने रहे जिससे कुछ ही समय में जड़वादियों के हाथ-पैर ढीले हो गए और वे भी घुमा-फिराकर प्रगतिशीलता तथा विदेश यात्रा के समर्थन में सिर हिलाने लगे ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद केवल बी० ए० तक पढ़कर संतुष्ट न हुए । यद्यपि उस समय की पढ़ाई भी इतनी अधिक थी कि उसके बल पर कोई भी बड़ी से बड़ी सरकारी नौकरी प्राप्त की जा सकती थी, किन्तु राजेन्द्र बाबू नौकरी न करना चाहते थे अतएव उन्होंने एम० ए० तथा वकालत की परीक्षाएँ एक साथ पास कीं । एम० ए०, एल० एल० बी० हो जाने पर उन्होंने देखा कि विद्याध्ययन के लिए अभी बहुत कुछ अवकाश तथा अवसर है । अस्तु उन्होंने विलायत जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा पास करने का निश्चय किया ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की योग्यता तथा लोकप्रियता ने, जो कि उन्होंने बिहार में विद्यार्थी संगठन तथा कांग्रेस प्रचार के कार्यों से उपार्जित की थी, लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपने इस रत्न को और अधिक चमकने के लिए विलायत भेजने का प्रबंध करें । निदान बिहार के अनेक प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य व्यक्तियों ने उनके विलायत जाने से लेकर आने तक के सारे व्यय का प्रबंध कर दिया । किन्तु अपने बीमार माता-पिता के स्नेहित अनुरोध के कारण उन्होंने अपना विचार स्थगित कर दिया और इकट्ठे हुए धन व वस्त्रों को अपने एक मित्र को देकर विलायत पढ़ने भेज दिया ।

पिता की मृत्यु के बाद राजेन्द्र प्रसाद ने पारिवारिक दायित्व एवं व्यय में अपने बड़े भाई का हाथ बँटाने के लिए पढ़ाई समाप्त कर मुजफ्फरपुर कालेज में

प्रोफ़ेसर के पद पर चले गए । किन्तु बाद में भाई के अनुरोध पर वकालत करने के लिए कलकत्ता हाईकोर्ट में चले गए । नियमानुसार जिस समय वे शमसुल हुदा साहब के पास वकालत की ट्रेनिंग ले रहे थे उस समय उन्होंने अपनी परिश्रमशीलता से शीघ्र ही कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील-बैरिस्टरों के बीच अपना स्थान बना लिया । वे सुबह सात बजे कई मील पैदल चलकर शमसुलहुदा साहब के घर जाते और दस बजे तक मुकदमों के कागज पढ़ते और बाद में अपने सीनियर वकील के तत्वावधान में मुकदमों की पैरवी करते । अपने प्रशिक्षण काल में उन्होंने अपने परिश्रम के बदले में न तो श्री शमसुलहुदा से कोई पैसा लिया और न खर्च के लिए बड़े भाई को ही कोई कष्ट दिया बल्कि अपना काम चलाने के लिए दो-तीन ट्यूशनें कर लीं ।

प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद वे अपनी स्वतंत्र वकालत करने लगे । उनकी वकालत करने का ध्येय केवल पैसा कमाना न था । वे अपनी इस जीविका के साधन द्वारा भी लोक-सेवा ही करना चाहते थे । अस्तु उन्होंने ज्यादा फीस दे सकने वाले अमीरों के मुकदमे लेने के बजाय अत्याचार त्रस्त ऐसे गरीबों के मुकदमे लेने शूरू किये जो पूरी फीस भी न दे पाते थे । अपनी इस निर्लोभ तथा त्यागपूर्ण वकालत से वे जन-साधारण में इतने विख्यात हो गए कि उनके घर पैरवी के लिए गरीब आदमियों की भीड़ लगी रहने लगी ।

इसी बीच बिहार प्रांत के अलग अस्तित्व में आने पर सरकार ने एक बिहार विश्वविद्यलाय स्थापित करने के लिए एक बिल पास किया जिसमें कहा गया था कि विश्वविद्यालय के लिए एक प्रबंध समिति स्थापित की जाये और उसमें केवल सरकारी आदमी ही रखे जायें । बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने इस बिल का घोर विरोध किया और सेवा कार्यों से उपार्जित अपने लोकमत का उपयोग कर बिल में जनता के प्रतिनिधित्व के लिए संशोधन करा लिया । उनके इस महान् कार्य का फल यह हुआ कि विश्वविद्यालय की सीनेट सभा के वे ही एक सम्मानित सदस्य बना लिए गए ।

अपनी वकालत की कमाई का एक बड़ा भाग वे सदैव निर्धन विद्यार्थियों की सहायता करने में लगाते रहे और इस सहायता को स्थायी बनाने के लिए उन्होंने एक 'विद्यार्थी-कोष' नाम की संस्था की स्थापना भी की ।

जिसके हृदय में मानवता के प्रति सच्ची सहानुभूति है, जन सेवा की सच्ची लगन लगी होती है वह पीड़ित मानवता की पुकार पर कोई भी बड़े से बड़ा त्याग करने में संकोच नहीं करता । १९१४ में जिस समय बंगाल और बिहार में बाढ़ का प्रकोप हुआ और वहाँ की जनता सहायता के लिए पुकार कर उठी । डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अपना सारा काम-काज छोड़कर बाढ़ पीड़ितों की सेवा में जुट गए । उन्होंने अनेक सहायक समितियों तथा स्वयंसेवक दलों का निर्माण किया । गाँव-गाँव, नगर-नगर पैदल पानी में चलकर डूबते हुए लोगों का उद्धार किया । दर्द भरी अपीलें करके और याचना की भाषा में भाषण करके बाढ़ पीड़ितों के लिए अन्न-वस्त्र तथा धन का प्रबंध किया ।

सन् १९१४ की प्रलयंकारी बाढ़ से त्रस्त मानवता की दशा देखकर जो सेवा-भाव का उदय हुआ उसने फिर उनको अधिकाधिक सेवा की ओर ही प्रेरित किया । अब उन्होंने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समाज के साथ ही मिला दिया । निरंतर सेवा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता स्वीकार कर ली और समाज को स्थायी रूप से सुखी तथा स्वाधीन बनाने के लिए राजनीति के माध्यम से सेवारत हो गए ।

कांग्रेस में रहते हुए उन्होंने चंपारन सत्याग्रह, रौलट एक्ट का विरोध, असहयोग आंदोलन तथा साइमन बहिष्कार की खतरनाक हलचलों का नेतृत्व ही नहीं किया अपितु अपने साहस तथा निष्ठा का प्रमाण दे दिया ।

१९३४ में बिहार की बर्बादी लेकर जो भयानक भूकंप आया था उससे समस्त उत्तरी बिहार बर्बाद हो गया । डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अस्पताल में रोग शय्या पर पड़े हुए थे । जिस समय उन्हें इस भयानक भूकंप का समाचार मिला वे अपने को नहीं रोक सके । उन्होंने अस्पताल से छुट्टी माँगी किन्तु जब वह न दी गई तो वे इस दु:ख से और भी अधिक बीमार हो गए । निदान उन्हें अस्पताल से छुट्टी मिल गई ।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद उसी बीमारी की हालत में सीधे भूकंप पीड़ित क्षेत्रों में गए और मलवा हटाने, लाशें निकालने तथा यत्र-तत्र फैले हुए व्यक्तियों को बचाने में जुट गए । सारे देश से धन तथा स्वयंसेवक इकट्ठा करके भूकंप पीड़ितों की सेवा में लगा दिया । जिसके फलस्वरूप भूकंप पीड़ितों को काफी सान्त्वना

मिली किन्तु डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का स्वास्थ्य बुरी तरह गिर गया जिसके कारण वे बीमार रहने लगे।

इस प्रकार पीड़ितों की सेवा में अपना सर्वस्व होम देने वाले डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सदाव्रत आश्रम की राष्ट्रीय विद्यापीठ के प्रिंसीपल, पटना म्यूनिस्पिल बोर्ड के अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति रहनें के साथ-साथ स्वतंत्रता के बाद से लगभग दस-बारह वर्ष भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति पद पर रहे।

अपनी देश सेवा तथा समाज सेवा के दौरान उन्होंने बीसों बार जेल यात्रा की, अनेक जन सेवी संस्थाओं की स्थापना के साथ राष्ट्रीय शिक्षा प्रचार के लिए सदाव्रत आश्रम से लेकर लगभग सत्तर प्रारंभिक तथा मिडिल स्कूलों की स्थापना की और बिहार में मद्य निषेध आंदोलन को बहुत सीमा तक सफल बनाया।

आपने बिहार प्रांत के सारन जिले के जीराबाई नामक ग्राम में ३ दिसंबर १८८४ को जन्म लिया। इनके पूज्य पिता का नाम मुंशी महादेव सहाय था जो कि प्रतिष्ठित कायस्थ बुलराह थे।

राष्ट्र निर्माण हेतु समर्पित जीवन

गुरु गोलवलकर

माता-पिता ने नौ संतानों को जन्म दिया था परंतु आँखों के आगे तो एक ही था-माधवराव ! इसी कारण सारा का सारा प्यार, ममत्व और साधन सब कुछ उन पर लुटा दिया। पिता एक शिक्षक थे फिर भी चाहते थे कि उनका बेटा खूब पढ़े-लिखे और अच्छा वकील बने। प्रारंभिक शिक्षा नागपुर में ही पूरी कर लेने के बाद उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यलाय भेजा गया। सन् १९३० में उन्होंने जीवशास्त्र विषय से एम० एस० सी० पास कर ली और वहीं पर प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हो गए।

माता-पिता ने इतने दिनों का बिछोह भी न जाने कैसे सहा होगा, इसका कारण

उन्होंने तत्काल नौकरी छोड़कर नागपुर आ जाने के लिए लिखा । दूसरे वे अपने लाड़ले को कुछ और ही बनाना चाहते थे । गोलवलकर अपने छात्रों से प्रगाढ़ स्नेह सूत्रों में बँध गए । विद्यार्थी उन्हें 'सर' की अपेक्षा गुरुजी ही कहा करते । प्राचीन भारतीय ऋषि-आश्रमों के विद्वान मुनियों का प्रतीक । तभी से उनका यही नाम चल निकला । आगे चलकर वे एक संस्थान के छात्रों की अपेक्षा देशभर के लाखों नागरिकों को गुरु के समान मार्ग देने लगे । क्या विरोधी और क्या समर्थक, प्रशंसक सभी उन्हें इसी नाम से जानते हैं, सम्मान देते हैं ।

दो वर्ष तक प्राध्यापक रहने के बाद गोलवलकर जी ने वह पद छोड़ दिया और नागपुर आ गए । वहाँ उन्होंने विधि महाविद्यलाय में प्रवेश लिया और कानून की उपाधि भी प्राप्त कर ली । लेकिन तभी उनके जीवन में ऐसा मोड़ आया जिस पर चलते हुए वे आज लक्ष-लक्ष मानवों की श्रद्धा का प्रतीक बन गए । उसी समय हिन्दू जाति को संगठित करने के उद्देश्य से डाक्टर केशवराम बलिराम हेडगेवार नें'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की स्थापना की थी । संस्था अपने प्रारंभिक दिनों में थी और उसका मुख्यालय भी नागपुर में था । संयोग से गोलवलकर की उनसे भेंट हुई, परिचय में लगा कि गोलवलकर भी ऐसा ही कुछ चाहते थे परंतु इसके लिए क्या किया जाय इसका कोई स्पष्ट स्वरूप वे निर्धारित नहीं कर पाये थे । डाक्टर हेडगेवार की योजना सुनकर उन्हें लगा कि यह उनके सपनों का ही प्रयोग रूप है ।

और हेडगेवार गोलवलकर की निष्ठा, चरित्र, देश-प्रेम और विचारों से प्रभावित हुए । उन्होंने अनुभव किया कि संगठन को दृढ़ बनाने के लिए जैसे योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी वह पूरी हो गयी । गोलवलकर और हेडगेवार एक दूसरे को बेहद प्रभावित कर गए और संगठन शक्ति के जागरण का सम्मिलित प्रयास करने का दोनों ने संकल्प कर लिया ।

माता-पिता ने विवाह कर लेने पर जोर दिया परंतु उन्होंने स्पष्ट असहमति व्यक्त कर दी । वकालत का धंधा चलाने के लिए कहा लेकिन मन नहीं लगा । वृद्ध माँ-बाप निराश हो गए । सोचने लगे-लड़का हाथ से निकल गया । तभी गोलवलकर की जीवन दिशा बदली और वे संगठन तथा समाज सेवा से विमुख होकर आत्म कल्याण और आध्यात्मिक साधना की बात सोचने लगे । स्वामी

विवेकानंद के विचारों का उन पर गहरा प्रभाव था उसी साधना पद्धति से आत्म साधना की ओर प्रवृत्त होने का निश्चय उन्होंने डाक्टर साहब को बताया । डाक्टर साहब का विश्वास था कि विवेकानंद के विचारों का अनुयायी राष्ट्र और समाज सेवा से कभी विमुख नहीं हो सकता इसलिए उन्हें इसकी तनिक भी चिंता न हुई । परंतु थोड़ा सा भय तो था कि गोलवलकर एक पक्षीय चिंतन में ही न उतरते जाँय और ऐसा योग्य कुशल व्यक्ति हाथ से ही खो बैठें । इसलिए आध्यात्मिक साधना के विचार से सहमत होकर रामकृष्ण मिशन के आश्रम जाकर रहते हुए भी, वहाँ से किसी न किसी रूप में सम्पर्क बनाये रखने के लिए कहा । गोलवलकर ने रामकृष्ण परमहंस के प्रमुख शिष्य स्वामी अखंडानंद जी से दीक्षा ग्रहण की और 'आश्रम' में जाकर रहने लगे ।

उनका आश्रमवास संक्रमण काल कहा जा सकता है । उनके भीतर अनवरत मंथन चला करता । वे सोचते क्या उचित है एकांगी अध्यात्म साधना या समाज-सेवा । अकेले स्वयं को मुक्त करने के लिए स्वार्थ प्रयोजन की पूर्ति हेतु पूजा-पाठ या क्रोटि-कोटि पराधीन जनता का मार्गदर्शन । स्वशासन विशृंखलित हिन्दू समाज या संगठित और सुदृढ़ संघ शक्ति का प्रादुर्भाव । अंतर में आत्मा कचोटती-क़रोड़ों हिन्दू अपने अस्तित्व के विनाश काल में भी स्वयं की रक्षा कर पाने में असमर्थ हैं । तुममें वह प्रतिभा है जो उन्हें इस विनाश और महामृत्यु से बचा सके लेकिन तुमने तो अब केवल आत्म कल्याण और मोक्ष का जीवन लक्ष्य बनाकर परमार्थ से मुँह मोड़ लिया है ।

अंततः व्यक्तिगत रूप से मोक्ष की कामना पर राष्ट्र के उद्धार ने विजय पाई और वे आश्रम छोड़कर चले आये । अब वे हिन्दू संगठन के कार्य के प्रति दृढ़ निष्ठावान बन चुके थे । हिन्दू जाति के पुनरुत्थान की बात सुन कई-कई लोगों ने उन पर जातिवादी एवं संप्रदायवादी का आरोप लगाया । लेकिन उनके द्वारा की गयी हिन्दू शब्द की परिभाषा से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि उनके विचार कितने उदार और राष्ट्रवादी हैं । हिन्दू शब्द की व्याख्या करते हुए वे यही कहते-"सिंधु से गंगा तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक के भू-भाग में बसने वाले लोग, यहाँ की संस्कृति, मान्यताओं और जीवन मूल्यों में आस्था रखने वाले सभी व्यक्ति हिन्दू हैं ।" इस व्याख्या को सुन-समझकर सभी बुद्धिजीवियों ने हेडगेवार और

गोलवलकर के प्रयासों की प्रशंसा की । भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षा मंत्री श्री मोहम्मद करीम छागला जो 'इस्लाम' मतानुयायी थे, भी स्वयं को हिन्दू कहने में नहीं हिचकिचाये ।

एकांतिक आध्यात्मिक साधना से विरत होकर गोलवलकर बंगाल प्रांत के प्रमुख प्रचारक बने । कुछ समय तक इस पद पर बने रहने के बाद डॉक्टर हेडगेवार का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा । यह समाचार मिलते ही वे उनके पास आ गए । स्थिति गंभीर होती गयी । सन् १९४० में मृत्यु को समीप जानकर आखिरी साँस लेने से पहले हेडगेवार ने अपने साथियों का अग्रणी उन्हें घोषित कर दिया । सर संघ चालक बनते ही उत्तरदायित्वों का भार बढ़ गया । उन्होंने पूरे भारत का दौरा किया, स्थान-स्थान पर सभाएँ एवं गोष्ठियाँ होती रहीं और अनुशासित तथा सेवा भावी स्वयंसेवक अपने राष्ट्रीय दायित्व की पूर्ति हेतु आगे आने लगे ।

प्रवास एवं प्रचार यात्राओं में वे इतने व्यस्त रहते थे कि अपरिचित व्यक्तियों द्वारा अता पता पूछने पर रेल के डिब्बे को ही वे अपना घर बताते । सोये हुए राष्ट्र में एकता, ममता, त्याग, अनुशासन और सेवा निष्ठा का भाव जगाने लगे । इन सद्‌गुणों के बल पर ही तो कोई राष्ट्र ऊँचा उठता है । लोग उनके भाषणों में काफी संख्या में एकत्रित होते । यद्यपि सरकार ने इस संगठन को राजनीतिक संगठन और प्रतिबंधित संगठन घोषित कर शासकीय कर्मचारियों को भाग लेने की भी मनाही कर दी फिर भी देश-प्रेम और जन-जागरण की भावनाओं से ओत-प्रोत हृदय उनकी ओजस्वी वाणी को सुनने के लिए मचल उठते थे । उन्होंने देश भक्ति, अध्यात्म और मूलभूत भारतीय अध्यात्म चिंतन से अभिभूत होकर देशवासियों को एक ऐसी विचारधारा दी जिसके बल पर सोवियत संघ और जर्मनी जैसे साम्यवादी देश तक क्रांति के बाद अपने पुनर्निमाण में लगे ।

गुरु गोलवलकर के मतानुसार जीवन में परिष्कृत दृष्टिकोण का अभाव ही हमारी प्रमुख समस्या है । जिसे सुलझाये बिना दृष्टिगत होने वाली उलझनें कभी समाप्त नहीं होंगी । इन उलझनों पर विजय पाने का एकमेव आधार है परमेश्वर को सर्वव्यापी और विश्व का आधार मानकर उसकी निष्काम क्रियात्मक उपासना । समूचा जगत् एक परमात्मा से ओत-प्रोत है वह अव्यक्त ब्रह्म विश्व रूप में व्यक्त हुआ । समाज उसी का दृश्य स्वरूप है-इस मान्यता के अनुसार ईश्वर के इस व्यक्त

स्वरूप की सेवा उपासना ही आत्मकल्याण का एकमात्र साधन है । बिना किसी प्रकार का भेदभाव किए समाज के हर वर्ग और हर व्यक्ति की सेवा हमारी साधना होना चाहिए-उपासना बनना चाहिए । पूजा के लिए तो पत्र-पुष्प भी पर्याप्त हैं परंतु साधना में अपनी समस्त सम्पत्ति नैवेद्य रूप में समाज परमेश्वर के चरणों में अर्पित करना ही आस्तिक जीवन का मुख्य आधार है ।

सब कुछ परमात्मा को, समाज को सौंप दिया जाय तो स्वयं के निर्वाह हेतु भी तो कुछ चाहिए ? इस संबंध में गुरुजी की मान्यता थी कि लोकसेवियों को अपनी क्षमता और सामर्थ्य का आवश्यकता भर स्वयं के लिए रखना चाहिए शेष सब भगवान का है उसी की पूजा-अर्चा में लगे । इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे टॉल्स्टॉय की एक कहानी सुनाया करते थे कि किसी कृषक से एक राजा ने प्रसन्न होकर कहा-"शाम तक जितनी भूमि पर तुम चल लोगे उतनी जमीन तुम्हें दे दी जायेगी ।" इस सुअवसर को हाथ से न जाने देकर वह दौड़ा और दौड़ता रहा । सूर्य डूबने तक उसने मीलों भूमि नाप दी । शाम होने से पहले ही वह थक कर गिर पड़ा और उसे सात फुट जमीन पर दफना दिया गया । अधिक की आकांक्षा, उसे प्राप्त करने के प्रयास और प्राप्त कर लने पर भी मनुष्य उसका पूरा उपयोग नहीं कर सकता । इस कारण अपनी आवश्यकता भर ही स्वयं के लिए लेना चाहिए । अन्यथा इच्छाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाने, उन्हें पूरा करने में ही सारा जीवन समाप्त हो जायगा फिर भी हाथ कुछ नहीं बचेगा ।

स्वयं भी इस तथ्य को उन्होंने अपने जीवन में उतार कर बताया और लोगों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया कि समाज सेवा के लिए किस प्रकार समर्पित हुआ जा सकता है ।

३० जनवरी १९४८ को महात्मा गाँधी की हत्या पर सरकार ने गोलवलकर और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर संदेह किया । आर० एस० एस० के सैकड़ों कार्यकर्त्ता और गुरुजी बंदी बना लिए गए । अपने श्रद्धा केन्द्र के प्रति इस प्रकार का व्यवहार देखकर अन्य कार्यकर्ता उत्तेजित हो उठे । परंतु गुरुजी ने उन्हें शांत रहने के लिए कहा और विश्वास दिया कि सत्य हमारे पक्ष में होते हुए किसी भी प्रकार अनिष्ट का भय नहीं है । देश भर में फैली शाखाओं को अपनी गतिविधियाँ स्थगित करने और शांत रहने का निर्देश देकर उन्होंने अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया । सरकार

ने उन्हें ६ अक्टूबर १९४८ को रिहा कर दिया परंतु नागपुर से बाहर न जाने की भी कड़ी हिदायत दी । वे सरदार पटेल और पं० नेहरू से पत्र व्यवहार करते रहे । अंतत: सत्याग्रह आंदोलन छेड़ा गया और १२ जुलाई १९४८ को संघ पर से प्रतिबंध हटा लिया गया । इन परीक्षा की घड़ियों में अपने अनुयायियों को शांत रहने का आग्रह नहीं आदेश देने वाले वे पहले व्यक्ति थे जिसे लाखों कार्यकर्ताओं ने माना और अपने रोष को पी लिया । इतना अनुशासन दुनिया के किसी भी दल में शायद नहीं देखा जा सका है ।

परीक्षा की इस घड़ी के बाद संघ कार्य दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ने लगा । उनके नेतृत्व में लाखों कार्यकर्ता अनुशासनबद्ध होकर राष्ट्र निर्माण के कार्य में जुट गए । अनुशासन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रधान विशेषता है । किसी भी संगठन या मिशन में जब यह भाव और निष्ठा आ जाती है तो कार्यकर्ताओं में एक ऐसी त्याग की भावना जन्म लेती है जो अपने मार्गदर्शक के इशारे पर जीवन को भी बलिदान करा देती है ।

गुरु गोलवलकर ने राष्ट्रोत्थान के लिए दो बातों पर विशेष जोर दिया-शक्ति और चरित्र । जिन देशों, जातियों और समाजों के पास ये दो गुण होंगे वह चहुँमुखी विकास कर लेगा । उसकी दशा चाहे कितनी ही गिरी हुई क्यों न हो । उन्होंने समय-समय पर राष्ट्र को कई खतरों से आगाह किया और अपनी सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की ओर ध्यान आकृष्ट कराया । देश की आंतरिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए भी उन्होंने युवकों में जाग्रति की लहर ला दी ।

५ जून १९७६ को वे चिरनिद्रा में सो गए । हिन्दू समाज, भारतीय समाज के उत्थान हेतु समर्पित उनका जीवन राष्ट्र मंदिर में निर्वात निष्कंप दीप शिखा की भाँति जलता रहेगा । उनकी एक-एक स्मृति भावी पीढ़ी का प्रेरणा स्रोत और पथ-प्रदर्शक बनी रहेगी ।

आजीवन अन्याय से जूझने वाले क्रांतिकारी बापट

सन् १९२० । महाराष्ट्र का प्रसिद्ध किसान आंदोलन और जिसका नेतृत्व कर रहे थे-पांडुरंग महादेव बापट । अंग्रेज सरकार ने टाटा जल विद्युत शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना के लिए सैकड़ों किसानों की भूमि को अपने कब्जे में कर लिया था और कितने ही किसान केलव मात्र अपनी जीविका का साधन-भूमि के छिन जाने पर तिलमिला उठे थे, पर उनमें संगठित होकर भी अंग्रेज शासन से टक्कर लेने की हिम्मत न थी । पर आजीवन अन्यायों से जूझने वाले क्रांतिकारी बापट किसानों का दु:ख-दर्द देखकर कैसे चुप रह सकते थे उन्होंने महाराष्ट्र के समस्त किसानों को संगठित कर सत्याग्रह आंदोलन का बिगुल बजा दिया ।

बापट इस सत्याग्रह संग्राम का सफल नेतृत्व करने के कारण ही 'सेनापति' की उपाधि से विभूषित किए गए और उसके बाद महाराष्ट्र में होने वाले प्रत्येक आंदोलन का उन्होंने बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया । विद्युत उत्पादन केन्द्र के कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने की दृष्टि से सैकड़ों मजदूरों से भरी मोटर उक्त केन्द्र की ओर जा रही थी । सेनापति बापट ने मोटर चालक के पैरों पर गोली दागकर श्रमिकों को कार्य करने न जाने दिया । सेनापति बापट का यह कार्य अंग्रेज शासन के लिए एक चुनौती सिद्ध हुआ । वह अपने पाशविक बल के सम्मुख भला किसी की बात क्यों सुनने वाली थी । मोटर ड्राइवर की हत्या के प्रयास का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया और अंत में जब सब गवाहों के बयान पूरे हो गए तो न्यायाधीश ने बापट से भी अपनी सफाई देने को कहा । बापट थोड़ी देर को गंभीर हो गए फिर बड़ी शांति से बोले-"मैं क्रांतिकारी हूँ, आततायी नहीं । मुझे अपने निशाने पर पूरा-पूरा विश्वास है क्योंकि मैं अच्छे ढंग से पिस्तौल चला लेता हूँ, मेरा उद्देश्य ड्राइवर को मारना बिल्कुल न था । वरन् जिस अन्याय की सहायता में वह जुटा था उससे अलग करना ही मेरा उद्देश्य था । मैं अपने कार्य को विशु। सत्याग्रह मानता हूँ । यदि न्यायालय मुझे दोषी मानता है तो उसके द्वारा दिए गए दंड को भुगतने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ ।"

और सेनापति बापट को १२ वर्ष का कठोर कारावास-दंड सुना दिया। बापट तनिक भी विचलित न हुए। वह घटना आज भी राष्ट्र प्रेमियों के सम्मुख है, जिस दिन उन्होंने राष्ट्र के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन लगाने का व्रत लिया था। फिर उस व्रत के सम्मुख आने वाली अनेक बाधाओं से वह विचलित हो भी कैसे सकते थे। पूना के डेक्कन कालेज के छात्रावास में अपने दो अन्य मित्रों की उपस्थिति में बापट ने नंगी तलवार पर हाथ रखकर अपने व्यायाम शिक्षक श्री द० व० भिड़े के सम्मुख प्रतिज्ञा की-"मैं राष्ट्र हित में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाऊँगा।" फिर उसी संकल्प की पूर्ति हेतु आजीवन प्रयत्न करते रहे।

क्रांतिकारी बापट का जन्म १२ नवंबर १८८० ई० को महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित पारनेर नामक नगर के एक निर्धन परिवार में हुआ था। निर्धनता उनकी पढ़ाई में बाधक न बन सकी क्योंकि वह मेधावी छात्र थे जिससे पढ़ाई का सारा खर्च उन्हें मिलने वाली छात्रवृत्तियों से पूर्ण होता गया। पूना से स्नातक उपाधि प्राप्त कर वे विद्युत इंजीनियरिंग का अध्ययन करने इंग्लैंड चले गये वहाँ विद्युत तकनीक में विशेषज्ञ बनने के स्थान पर अग्निबम बनाने की कला में निपुण हो गए। यहीं उनकी भेंट वीर सावरकर से हुई। वीर सावरकर के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और क्रांतिकारी संगठन के सक्रिय सदस्य बन गए।

क्रांतिकारी बापट के निर्भीकता और साहस, जन्मजात गुण थे। मृत्यु की तो वह तनिक भी चिंता न करते थे एक दिन उन्होंने सावरकर से ब्रिटिश संसद को अपने बमों से निशाना बनाकर तहश-नहश करने की आज्ञा माँगी। किन्तु बापट को ऐसा कार्य न करने की सलाह देते हुए भारत लौटने के लिए कहा, जहाँ पहुँचकर वह क्रांतिकारियों को बम बनाने के प्रशिक्षण से अवगत करावें। भारत में तो उस समय कितने ही क्रांतिकारी ब्रिटिश शासन को समूल उखाड़ने के लिए सीना ताने तैयार खड़े थे।

बापट ने सन् १९०६ में भारत लौटकर लोकमान्य तिलक से भेंट की और क्रांति से संबंधित अनेक गतिविधियों पर विचार-विमर्श किया। सन् १९०८ में मानिक बम कांड के सिलसिले में ब्रिटिश राज्य शासन का दमन चक्र जोर-शोर से

चल-पड़ा और किसी जासूस ने बापट का भी नाम ले दिया । फिर क्या था इन्हें बंदी बनाने के लिए पुलिस की टुकड़ियाँ जहाँ-तहाँ छानबीन कर पता लगाने लगीं पर बापट का कहीं पता न लगा । वह महाराष्ट्र में ही क्रांति की मशाल हाथ में लिए जगह-जगह घूमते रहे और नव-युवकों को बम बनाने की शिक्षा तथा अंग्रेजों को छकाने के क्रांतिकारी ढंग बताते रहे । उन्होंने ५ वर्ष भूमिगत रहकर पुलिस को ऐसा छकाया कि वह भी नाकों चने चाब गई ।

सन् १९१८ में बापट ने लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित 'मराठा' का संपादन किया । अपनी संपादन कला से मराठा के हजारों पाठकों को यह बता दिया कि शस्त्र उपासक सरस्वती का उपासक बनकर अपनी लेखनी से हजारों व्यक्तियों के दिल और दिमाग को नई दिशा की ओर मोड़ सकता है ।

कारावास की लंबी अवधि से रिहा होकर बापट ने इंडियन नेशनल कांग्रेस में सक्रिय रूप से कार्य करना प्रारंभ कर दिया । सन् १९३१ में महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए । सन् १९३२ में जब हिन्दू महासभा के नेता वासुदेव बलवंत गोगाटे ने अंग्रेज गवर्नर हडसन पर पूना में गोली चलाई तब कितने ही नेताओं ने गोगाटे के इस साहसपूर्ण कार्य की कटु शब्दों में आलोचना की पर उस समय अपनी आत्मा की पुकार पर सिंह गर्जना करने वाले और गोगाटे के कार्य को प्रोत्साहित करने वाले सेनापति बापट ही थे जिन्होंने कहा था-"शाबास बहादुर ! ऐसा ही करना चाहिए था ।"

अंग्रेज सरकार भला क्यों चूकने वाली थी वह सदा ऐसे अवसरों की तलाश ही करती रहती थी उसने बापट को हिंसा भड़काने का दोषी बताकर बंदी बना लिया और ५ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुना दी । सन् १९३७ में बंबई में कपूर मंत्रिमंडल के गठित होने पर उन्हें रिहा किया गया । पर जेल जीवन की कठोर यातनाओं से घबड़ाकर वह हार मानने वाले न थे उन्होंने तो अब और अधिक सक्रियता के साथ कार्य करके लक्ष्य पूर्ति हेतु जुटने का निश्चय कर लिया । सन् १९३९ में हिन्दू महासभा और आर्य समाज ने संयुक्त रूप से हैदराबाद जन अधिकारियों की सुरक्षा के लिए जो सत्याग्रह चलाया उसकी प्रथम पंक्ति में खड़े होकर नेतृत्व करते हुए अंग्रेज शासन को ललकारा । सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध विरोधी भावना भड़काने के आरोप में उन्हें फिर बंदी बना लिया

गया और इस प्रकार जीवन के ८७ वर्षों में से उन्होंने २० मूल्यवान वर्ष जेल में ही बिता दिए ।

१५ अगस्त १९४७ को देश स्वतंत्र हो गया । स्वतंत्रता संग्राम के लाखों सैनिकों के स्वप्न साकार हुए । सेनापति बापट की भी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा वह भी भारतमाता की जय-जयकार करने लगे । अनेक सैनिकों ने अपनी सेवा और त्याग के फलस्वरूप स्वतंत्र देश की सरकार से आर्थिक सहायता की माँग की, पर बापट ने अपनी जवानी की पूँजी को होम देने के बाद भी बदले में कुछ न चाहा । वह तो इस बात पर प्रसन्न थे कि अपने प्रयत्नों का फल स्वतंत्रता के रूप में अपने ही जीवन में देख सके, जबकि कितने ही क्रांतिकारी प्राणोत्सर्ग करने के बाद जीवन की एक राह बनाकर ही बिदा हुए थे और उस मार्ग पर आने वाले सैनिकों को भी मौत का फंदा चूमने का आह्वान किया था ।

स्वतंत्रता मिल जाने के बाद वह चुप कैसे बैठ सकते थे । सन् १९५० में महाराष्ट्र समाजवादी दल ने अन्न आंदोलन किया तब भी वह आगे ही रहे । सन् १९५५ में गोआ मुक्ति संग्राम केसमय यह कहकर आगे बढ़े कि पलंग पर लेटकर प्राण देने से तो कहीं अच्छा, शत्रु से लड़कर मर जाना है ।

८६ वर्ष की आयु में मई १९६६ में बंबई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन पर महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद के समाधान हेतु ५ दिन तक अनशन करके महाजन आयोग की नियुक्ति करवाई । क्रांतिकारी बापट ने केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही कार्य करके जन-जन के मन में अपना स्थान नहीं बनाया वरन् वह साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी सदैव स्मरण किये जायेंगे ।

हिन्दू जाति में फैले हुए छुआछूत के रोग पर जब उनकी दृष्टि गई तो वह अच्छी तरह समझ गए कि जब तक जाति-पाँति के भेदभाव से देश को मुक्त नहीं कराया जाता तब तक वह प्रगति की दौड़ में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकेगा । लोगों की विचारधारायें संकीर्ण बनी रहेंगी फिर अपने समाज तथा राष्ट्रोन्नति के लिए वे क्या सोच सकेंगे ? अतः हरिजनों को सवर्णों के समान स्थान दिलाने के लिए वह झाड़ू लेकर हरिजन बस्तियों में सफाई करने पहुँचे और स्वच्छता का पाठ पढ़ाया ।

धर्म प्राण राष्ट्र में जन्म लेने के कारण वरेण्य क्रांतिकारी बापट की गीता और उपनिषदों में गहरी आस्था थी। गीता के अनुसार उन्होंने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया था। वह कर्म में विश्वास करते थे केवल कर्म में, फल तो ईश्वर के अधीन है, कर्म करते जायेंगे तो ईश्वर उसे फल अपने आप देगा। योगी अरविंद के 'डिवाइन लाइफ' का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया था।

सच्चे रूप में भारत को अपनी माँ मानने वाले और उसके रूप को सँवारने-बनाने का पूर्ण ध्यान रखने वाले बापट २८ नवंबर १९६७ को अपने जीवन के ८७ संघर्षमय वर्ष पूर्ण करके इस संसार से सदा-सदा के लिए बिदा हो गये। पुष्प अपनी सुगंध, वायु को समर्पित कर टहनी से झड़कर नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार अपनी सारी शक्ति देश सेवा में लगाकर अपना नश्वर शरीर छोड़कर अपने को पंच तत्वों में विलीन कर वह आगे चले गए। युग-युगों तक आने वाली पीढ़ियाँ उनके जीवन प्रकाश में चल कर अपनी मंजिल पर कदम बढ़ाती रहेंगी।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ.प्र.)